धर्मसंग्रह

* श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् *

धर्मसंग्रहः

श्रीहरिदासशास्त्री

* श्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् *

धर्मसंग्रहः

सच

श्रीवृन्दावनधामवास्तव्येन

न्याय-वैशेषिकशास्त्रि, न्यायाचार्य, काव्य, व्याकरण,

सांख्य, मीमांसा, वेदान्त, तर्क, तर्क, तर्क,

वैष्णवदर्शनतीर्थ, विद्यारत्नाद्युपाध्यलंकृतेन

श्रीहरिदासशास्त्रिणा सम्पादितः।

सद्ग्रन्थ प्रकाशकः-
श्रीहरिदासशास्त्री

श्रीगदाधरगौरहरि प्रेस,
श्रीहरिदासनिवास
कालीदह वृन्दावन।
जिला-मथुरा। उत्तर प्रदेश।

* श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् *

सदाचार

##-##

मानव जीवन में सदाचार का महत्त्व सर्वाधिक है. सदाचार से मानव जीवन उन्नत होता है मानव समाज में एकता दयालुता आ जाती है मानव सुख शान्ति से समृद्ध होकर व्यक्ति समाज एवं राष्ट्र की उन्नति का निर्माता बन जाता है. मानव एवं मानवेतर निखिल प्राणी आनन्द एवं निर्भय से जीवित रहने का अधिकारी बनते हैं।उत्तम लक्ष्य उत्तम धारणा,उत्तम आचरण एवं सतता के साथ ईश्वर के आदेशों का पालन करने वाले को सत् कहा जाता है।

छल,कपट,सम्मानलाभ प्रतिदान की आशा को छोड़कर निज इच्छा से प्रेरित होकर परहित के लिए कर्मरत व्यक्ति को सत कहा जाता है,उनका आचरण ही सदाचार है।

इस प्रकार आचरण परायण व्यक्तियों में ईश्वर का नाम सर्वप्रथम आता है,ईश्वर प्राणीमात्र को सुखी करने के लिए निरन्तर निज शक्ति,समय,अभिज्ञता को निर्माण करके कार्य करते रहते हैं,जिससे समस्त चेतन अचेतन सभी पदार्थों की यथावत् स्थिति होती है।

जनक जननी के निर्माता भी ईश्वर हैं और शरीर का निर्माता भी ईश्वर है,नेत्रों में ज्योति आपही देते हैं,भोजन पचाने

के लिए आग की जठरानल बनते है, मानव सर्वाधिक ज्ञान सम्पन्न होकर ईश्वर के कर्म को पहचान लेते हैं और ईश्वर के समान धर्मी होकर स्वार्थत्याग, सहिष्णु, अमानी मानद हो जाते हैं सत्‌शिक्षा से मानव को सरक्षित करने के लिए सर्व त्याग करके भी अनन्त जनावसान को वरण करते हैं। परम पावन ईश्वर के विमल कीर्तिपर्ण नाम को सर्वस्व बनाते हैं, जगते, सोते, बैठते, खाते-पीते, टहलते, नहाते सभी समय सर्व जनहितकारी परमप्रिय ईश्वर के नामैक शरण होते हैं। ५

* श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् *

विज्ञप्तिः

अकैतव सकललोक कल्याण व्रती, श्रीरामनारायण वैद्य

महोदय की आन्तरिक प्रेरणा से "धर्मसंग्रह" नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। यह ग्रन्थ श्रीमद्भागवतस्थ सप्तम स्कन्ध के एकादश, द्वादश, त्रयोदश, चतुर्दश' 'पञ्चदश अध्यायों का संकलन है। इसका प्रारम्भ-धर्म जिज्ञासु महाराज श्रीयुधिष्ठिर के प्रश्न से धर्मवक्ता श्रीनारद जी के प्रवचन द्वारा हुआ है, एकादश अध्याय में सर्वप्रथम सबके लिए सदाचार का निर्णय, द्वादश में-अध्ययन व्रती ब्रह्मचारी का आचरणीय धर्म वर्णन, त्रयोदश में-यति धर्म का निरूपण, चतुर्दश में-गृहस्थ धर्म निर्णय, पञ्चदश में-सर्वधर्म सार निर्णय हुआ है। जिज्ञासा क्रम से पाँच अध्यायों में भिन्न-भिन्न विषय वर्णित होने पर भी एक वाक्य से इसको सदाचार निर्णय ही कहा जाता है।

ईश्वर सृष्ट जगत् में मानव शरीर का महत्त्व सर्वाधिक है, नर एवं नारी इसके दो रूप हैं, यह शरीर द्वय एक आत्मा से समान रूप से उत्पन्न हुए हैं। अतःदोनों शरीर के लिए एक ही ईश्वरीय विधान प्रयोज्य होता है। ईश्वरीय शिक्षा से शिक्षित होकर उभय शरीर ही प्राणीमात्र को निर्भय एवं सुखी कर सकते हैं। कर्त्तव्याकर्त्तव्य बोधक ईश्वरीय वाक्य ही धर्म है, निज निज अधिकारोचित कर्त्तव्य का पालन ईश्वरीय निर्देश से करना मानव

के लिए परम कर्त्तव्य होता है।

परमपावन जगत् पिता ने गुण एवं कर्म के माध्यम से चतुर्वर्ण की सृष्टि की है,अध्ययन-अध्यापन ज्ञानपूर्ण को ब्राह्मण,शास्त्रीय ज्ञान सम्पन्न होकर लोक जगत की रक्षणावेक्षण विधि निपुण को क्षत्रिय,कृषि,गोरक्षा,वाणिज्य प्रभृति व्यवस्थारत को वैश्य अनुकूल भाव से परिचर्यारत को शूद्र कहा जाता है। मानव समाज में इसका स्थान,मानव शरीर में मुख,बाहु,ऊरु,एवं चरण के समान हैं और ज्ञान,रक्षणावेक्षण,जीविका,परिचर्या प्रधान कर्म को ही ब्राह्मण,क्षत्रिय,वैश्य,शूद्र संज्ञा होती है।

मानव जीवन को चार भागों में विभक्त कर कर्तव्य पालन का निर्देश ईश्वरीय है,इसमें प्रथम-अध्ययन,गुरुसेवा, मर्यादा पालन की शिक्षा को ब्रह्मचर्याश्रम,द्वितीय-उक्त शिक्षा को कार्यान्वित करने के लिए गृहस्थाश्रम,तृतीय-आत्मानुसन्धान में रत होने के लिए संयमाचरण को वानप्रस्थाश्रम एवं अहंकार का परित्याग कर प्राणीमात्र को अभय प्रदान का व्रत ग्रहण को संन्यासाश्रम कहा गया है।ईश्वरीय व्यवस्था स्वाभाविक अपरिहार्य एवं नित्य होने के कारण प्रत्येक मानव जीवन में वह अवश्य अवलम्बनीय है।

ईश्वरीय व्यवस्था परमोदार होने के कारण उक्त वर्णाश्रम धर्म का यथार्थ आचरण जहाँ पर भी दृढ हो उसको उसी दृष्टि से सम्मान प्रदान की व्यवस्था है,किन्तु केवल सन्ध्यावन्दन,तिलक,माला,जनेऊ,प्रभृति बाहर के आचरण एवं

उससे अभिमानी होकर शरीर यात्रा निर्वाह करने वाले को उस चिह्न को देखकर चिह्न के अनुरूप सम्मान देना निषिद्ध है, गुणानुरूप अकृत्रिम आचरण होने पर ही व्यक्ति सम्माननीय होता है। प्राणी समूह के हित में अपने को रत करना ही परम धार्मिकता है। प्रत्येक प्राणी मानव को विश्वास कर सकें एवं मानव से विश्वस्त होकर उल्लास से जीवित रह सकें, यह ही ईश्वरीय तन्त्र का तात्पर्य है, इसके लिए ईश्वर प्रवणता की शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक है, प्रथम-ईश्वरीय उपदेश को जानना, आदि गुरु, माता-पिता, अध्यापक वर्ग एवं गुणी व्यक्तियों को सम्मान प्रदान करना, उनकी आज्ञा पालन करना, ईश्वर के पास कृतज्ञ होना, उनके नाम, रूप, गुण, लीला-परिकर, धामादि को समादर देना एवं ईश्वरीय प्रसादी द्रव्य आदर से ग्रहण करना प्रधान कर्तव्य है। सतशिक्षा से ही मानव महान होता है, ईश्वरीय शिक्षा ही सर्वोत्तम सतशिक्षा है। प्रस्तुत ग्रन्थ सदाचार शिक्षा का सर्वोत्तम ग्रन्थ है, इसको पढ़कर मानव जीवन में परम शान्ति प्राप्त करेंगे।

हरिदास शास्त्री
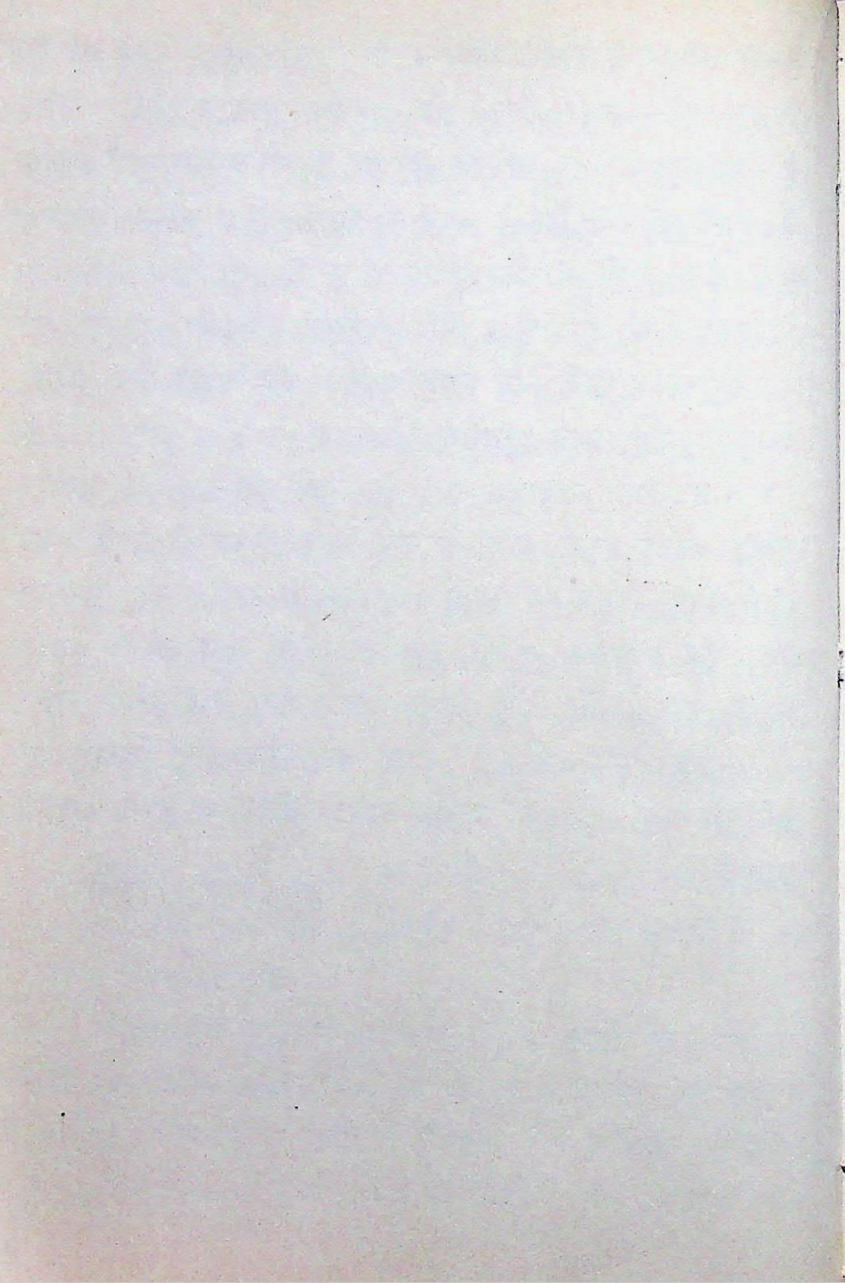
* श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् *

-**-

श्रीमद् भागवतीय

सप्तमस्यैकादशोऽध्याय:

सदाचार निर्णय:

-*-

श्रीशुक उवाच

श्रुत्वेहितं साधुसभासभाजितं
महत्तमाग्रण्यउरुक्रमात्मन:।
युधिष्ठिरोदैत्यपते र्मुदान्वित:
पप्रच्छभूयस्तनयं स्वयम्भुव:।।१।।

गदाधरं प्रणम्याथ गौरचन्द्रसमन्वितं।
पञ्चाध्याय स्थितग्रन्थं व्याख्याति हरिदासक:।।

एकादशाध्याय में सामान्यत: मनुष्य धर्म एवं विशेष रूप से वर्णधर्म एवं स्त्रीधर्म का वर्णन है। श्रीशुकदेव ने कहा-हे राजन् दैत्यपति प्रह्लाद का मन: सर्वदा श्रीभगवान में अर्पित रहता था,आप महत्तमो के अग्रगण्य साधुसभा में सम्मानित थे,उनके पवित्र चरित्र को सुनकर महाराज युधिष्ठिर अत्यन्त आनन्दित होकर ब्रह्मतनय को पुनर्वार पूछे थे।।१।।

श्रीयुधिष्ठिरउवाच

भगवन् श्रोतुमिच्छामि नृणांधर्मं सनातनम्।

वर्णाश्रमाचार युतं यत्पुमान् विन्दते परम्।।२।।

भवान् प्रजापतेः साक्षादात्मनः परमेष्ठिनः।

सुतानां सम्मतो ब्रह्मंस्तपोयोगसमाधिभिः।।३।।

श्रीयुधिष्ठिर ने कहा-भगवन्' मनुष्यवृन्द के सनातन धर्म तथा वर्ण एवं आश्रम समूह के आचरण को आपके निकट से सुनने की इच्छा है,कारण उससे मानव ज्ञान एवं भक्ति लाभ करने में समर्थ होता है। ब्रह्मन् आप परमेष्ठी प्रजापति के साक्षात् आत्मज हैं एवं तपस्या,ज्ञान,समाधि द्वारा आप श्रेष्ठ हैं,अतएव आप सब कुछ जानते हैं।।३।।

नारायणपरा विप्रा धर्मं गुह्यं परं विदुः।

करूणाः साधवः शान्तास्त्वद्विधा न तथा परे।।४।।

यद्यपि स्मृतिकारगण कहते हैं कि विप्रगण नारायण परायण हैं,एवं परम धर्म अतिशय गुह्य है,अतएव आप उसको कहें। हे मुने' आपके समान साधु,शान्त पुरूषगण जिस प्रकार दयालु होते हैं,अन्य व्यक्तिगण तद्रूप नहीं होते हैं।।४।।

श्रीनारद उवाच

नत्वा भगवतोऽजाय लोकानां धर्मसेतवे।

वक्ष्ये सनातनं धर्मं नारायणमुखाच्छ्रुतम्।।५।।

श्रीनारदजी ने कहा-सकल लोकों के धर्मसेतु रूपी

भगवान् नारायण को नमस्कार करके उनसे श्रवण किया हुआ सनातन धर्म को मैं कहता हूँ।।५।।

योऽवतीर्यात्मनोऽशेन दाक्षायण्यान्तु धर्मतः।
लोकानां स्वस्तयेऽध्यास्ते तपो बदरिकाश्रमे।।६।।

जो निज अंश के द्वारा धर्म के समीप से दक्षपुत्री मूर्ति से अवतीर्ण होकर जन कल्याणार्थ बदरिकाश्रम में तपस्यारत हैं।।६।।

धर्ममूलं हि भगवान् सर्ववेदमयो हरिः।
स्मृतञ्चतद्विदां राजन् येन चात्मा प्रसीदति।।७।।

हे राजन्' सर्ववेदस्वरूप भगवान् श्रीहरि अर्थात् अखिल वेदवेत्ताओं की स्मृति और जिस धर्म से मन की प्रसन्नता होती है,उक्त समूह धर्म का मूल अर्थात् प्रमाण है। धर्म का मूल एवं प्रमाण श्रीहरि हैं अतएव हरिबहिर्मुख धर्म अग्रहणीय है,भगवद् धर्म की ही आवश्यकता है, अतएव मनु ने भी कहा है-वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव . साधूनां आत्मनस्तुष्टिरेव चेति।। इस वाक्य से प्रस्तुत वचन की जो विशेषता है,वह यह है-यह धर्म कैतव वर्जित है,धर्म,अर्थ,काम,मोक्षादि की इच्छा को कैतव कहते हैं और इसका अधिकारी निर्मत्सर सत् गण हैं अन्यत्र स्पर्द्धालुजन अधिकारी नहीं हैं। मन की प्रसन्नता इस धर्म से ही सम्भव है,जिससे आत्मा प्रसन्न हो,इससे भगवद् रूप,गुण,लीला प्रभृति का श्रवण मनन ही साक्षात् श्रेष्ठ भक्ति है। इसमें साक्षात् प्रमाण ही है आत्मा की प्रसन्नता एवं श्रीहरिभक्ति

के बिना अपर धर्म की सिद्धि भी नहीं होती है। स्मृतिकार ने भी प्रथमतः विष्णु पूजा के प्राधान्य को दिखलाया है। याज्ञवल्क्य एवं मनु महाराज के धर्म प्रमापक वचनों से नारद वचन का ही प्रामाण्य अधिक है। नरसिंह पुराण में वर्णित है-निवृत्ति धर्म में सनकादि नियुक्त थे,प्रवृत्ति धर्म में मरीचि प्रभृति थे,भुक्ति धर्म में श्रीनारद मुनि निरत थे अतएव उन दोनों से नारद की श्रेष्ठता एवं सर्वधर्म सार विज्ञता है।।७।।

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यञ्च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्।।८।।

साद्ध पञ्चश्लोकों से नरमात्र का साधारण धर्म कहते है-नरमात्र का साधारण धर्म क्या है ?सुनो! सत्य,दया,तपस्या एकादशी प्रभृति में उपवास करना। शौच,तितिक्षा,शम-मन का संयम दम-बाह्येन्द्रिय का संयम,दान,स्वाध्याय यथोचित मन्त्रजप,आर्जव सरलता।।८।।

सन्तोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्।।९।।

सन्तोष(निर्वाहोचित वस्तु से तृप्ति)समदर्शी,महद्गण की सेवा,प्रवृत्तिमार्ग के कर्मों में निवृत्ति,मनुष्यमात्र की चेष्टा की समीक्षा करके उसमें निष्फलत्व का अनुसन्धान करना। मौन-वृथा आलाप परित्याग,आत्मविमर्शन-देहादि से भिन्न आत्मा का अनुसन्धान।।९।।

अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव।।१०।।

अन्न,लड्डू वसन भूषण,माला,चन्दन प्रभृति का वितरण यथायथ रूप से करें,सकल प्राणियों में आत्मवत् देवतावत् भावना करें।।१०।।

श्रवणं कीर्त्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्।।११।।

श्रीकृष्ण कथा श्रवण,रूप,गुण,लीला का कीर्त्तन,स्मरण,सेवा,अर्चना,प्रणाम,दास्य,सख्य एवं आत्मसमर्पण।।११।।

नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति।।१२।।

हे राजन्' यह त्रिंशसंख्यक धर्म मनुष्यमात्र के लिए परम धर्म है,इस प्रकार तीस धर्म लक्षण होने पर ही समस्त आत्मा का सन्तोष विधान होता है।।१२।।

संस्कारा यदविच्छिन्नाः स द्विजोऽजो जगाद यम्।
इज्याध्ययनदानानि विहितानि द्विजन्मनाम्।
जन्मकर्मावदातानां क्रियाश्चाश्रमचोदिताः।।१३।।

सम्प्रति वर्ण धर्म को कहने के लिए प्रथम द्विज का लक्षण कहते हैं-जिसका संस्कार गर्भाधानादि से आरम्भ मन्त्र विधान के अनुसार होता है वह द्विज कहलाता है। विच्छिन्न संस्कार को

द्विजबन्धु कहा जाता है। सृष्टि के समय से ही ब्रह्माजी ने मन्त्रपूर्वक संस्कार करने का विधान जिनको दिया है वह यदि मान्त्रिक संस्कार युक्त होता है तभी उसको द्विज कहा जायेगा। शूद्र के लिए मन्त्रवत् संस्कार युक्त होने का विधान ब्रह्माजी ने नहीं दिया है एवं उपनयन संस्कार का भी विधान शूद्र के लिए नहीं है अतएव शूद्र द्विज नहीं है,विवाहमात्र संस्कार शूद्र का है। गायत्री से ब्राह्मण को,त्रिष्टुप के द्वारा राजन्य को,जगती के द्वारा वैश्य को सृजन किया है,अतएव विवाह व्यतिरिक्त संस्कार की आवश्यकता शूद्र के लिए नही है। उपनयन संस्कार तो उसके लिए सर्वथा निषेध होने के कारण उसकी द्विज संज्ञा नही होती है। ब्राह्मण,क्षत्रिय,वैश्य इन तीन वर्णों के आवश्यक धर्म को कहते हैं-शुद्ध कुल एवं शुद्ध आचरण से परिशुद्ध जो द्विजाति वर्ण है उन सबके लिए ही यजन,अध्ययन,दान,ब्रह्मचर्यादि आश्रमोचित क्रिया समूह विहित हैं। दुष्कुल एवं दुराचार सम्पन्न द्विजाति के उक्त धर्म समूह विहित नही हैं अर्थात् उनके लिए उक्त धर्माचरण की आवश्यकता नही है। शूद्र के लिए केवल वर्ण धर्म ही विहित है उसके लिए आश्रमोचित धर्म पालन की आवश्यकता नही है।।१३।।

विप्रस्याध्ययनादीनि षडन्त्यादाप्रतिग्रहः।

राज्ञो वृत्तिः प्रजागोप्तुरविप्राद् वा करादिभिः।।१४।।

ब्राह्मण,क्षत्रिय,वैश्य,शुद्र इन चारो के वृत्ति रूप धर्म को सार्द्ध सात श्लोको से कहते हैं। विप्र के लिए षट् धर्म विहित

हैं-अध्ययन,अध्यापन,यजन,याजन,दान,प्रतिग्रह ये छै हैं। तीन कर्म जीविका के लिए हैं-अध्यापन,याजन एवं प्रतिग्रह किन्तु विशुद्ध व्यक्ति से ही प्रतिग्रह अर्थात् दान ग्रहण करें। क्षत्रिय के लिए प्रतिग्रह करने का विधान नहीं है अतएव क्षत्रिय के लिए पांच कर्म विहित हैं-अध्ययन,अध्यापन,यजन,याजन,दान। याजन एवं अध्यापन क्षत्रिय की आपद् वृत्ति है किन्तु प्रतिग्रह का विधान आपद्काल में भी नही है। प्रजापालन कर्म क्षत्रिय का विहित है। नम्रता से प्रजागण जो कुछ प्रदान करते हैं वह ही क्षत्रिय की वृत्ति होती है किन्तु ब्राह्मण व्यतीत अन्य प्रजा से कर ग्रहण करें एवं दण्ड शुल्कादि के द्वारा धन ग्रहण करें।।१४।।

वैश्यस्तु वार्त्तावृत्तिश्च नित्यं ब्रह्मकुलानुगः।
शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा वृत्तिश्च स्वामिनो भवेत्।।१५।।

वैश्य जाति के लिए कृषि वाणिज्यादि जीविका है एवं सर्वदा ब्राह्मण कुल के अनुगत रहना कर्त्तव्य है। शूद्र जाति के लिए द्विज शुश्रूषामात्र विहित है एवं द्विज शुश्रूषा ही उसकी वृत्ति है।।१५।।

वार्त्ता विचित्रा यायावरशिलोञ्छनम्।
विप्रवृत्तिचतुर्थ्यं श्रेयसी चोत्तरोत्तरा।।१६।।

मुख्य एवं अनुकल्प भेद से वृत्ति का विवरण कहते हैं-विचित्रा वार्त्ता अर्थात् कृष्यादि,शालीन अर्थात् धृष्टता को छोड़कर अयाचित रूप से प्राप्त,यायावर अर्थात् प्रत्यह भिक्षा

प्राप्त शस्यादि,शिल एवं उञ्छ वृत्ति,शिल शब्द का अर्थ धान्य क्षेत्रादि में स्वामि त्यक्त शस्यकण का ग्रहण,उञ्छ शब्द का अर्थ-दुकान आदि में परित्यक्त शस्यकण यह चार प्रकार विप्रजाति के लिए वृत्ति है इसमें से उत्तरोत्तर वृत्ति ही श्रेष्ठ है।।१६।।

जघन्यो नोत्तमां वृत्तिमनापदि भवेन्नरः।

ऋते राजन्यमापत्सु सर्वेषामपि सर्वशः।।१७।।

आपत्काल को छोड़कर निम्न वर्ग के लिए अध्यापनादि रूप उत्तमा वृत्ति का अवलम्बन करना विहित नहीं है। किन्तु आपत्काल में क्षत्रिय को छोड़कर सब ही व्यक्ति सब वृत्ति को अवलम्बन कर सकेंगे। क्षत्रिय आपत्काल में प्रतिग्रह को छोड़कर अन्य सकल वृत्ति को ग्रहण कर सकते हैं।।१७।।

ऋतामृताभ्यां जीवेत मृतेन प्रमृतेन वा।

सत्यानृताभ्यां जीवेत न श्ववृत्त्या कदाचन।।१८।।

हे राजन्' ब्राह्मण जाति के लिए जो चार वृत्ति की बात कही गयी है उसमें ऋत एवं अमृत द्वारा अथवा मृत एवं प्रमृत के द्वारा किम्बा सत्यामृत के द्वारा सकल जाति ही जीवन धारण कर सकते हैं किन्तु श्ववृत्ति के द्वारा जीविका निर्वाह करना कर्त्तव्य नहीं है।।१८।।

ऋतमुञ्छशिलं प्रोक्तममृतं यदयाचितम्।

मृतं तु नित्ययाच्ञा स्यात् प्रमृतं कर्षणं स्मृतम्।।१९।।

ऋत शब्द का अर्थ है-उञ्छ एवं शिल,प्रमृत का अर्थ

है-अयाचित,मृत शब्द का अर्थ है नित्य मांगना,प्रमृत शब्द का अर्थ है-कृषि।।१९।।

सत्यामृतं तु वाणिज्यं श्ववृत्तिर्नीचसेवनम्।
वर्जयेत् तां सदा विप्रो राजन्यश्च जुगुप्सिताम्।
सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो नृपः।।२०।।

सत्यामृत का अर्थ है-वाणिज्य,श्ववृत्ति का अर्थ है-नौकरी नीच सेवा। श्ववृत्ति नीच सेवा अतिशय गर्हित कर्म है। ब्राह्मण एवं क्षत्रिय सर्वदा उसका परित्याग करेंगे, कारण ब्राह्मण सर्ववेदमय एवं क्षत्रिय सर्वदेव स्वरूप हैं।।२०।।

शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम्।
ज्ञानं दयाच्युतात्मत्वं सत्यं च ब्रह्मलक्षणम्।।२१।।

सर्व वर्ण के प्रकाशक धर्म को कहते हैं-शम,दम,तपस्या,शौच,सन्तोष,क्षमा,ऋजुता,ज्ञान,दया,विष्णुपरत्व एवं सत्य,ये सब ब्राह्मण जाति के लक्षण हैं।।२१।।

शौर्यं वीर्यं धृतिस्तेजस्त्याग आत्मजयः क्षमा।
ब्रह्मण्यता प्रसादश्च रक्षा च क्षत्रलक्षणम्।।२२।।
देवगुर्वच्युते भक्तिस्त्रिवर्गपरिपोषणम्।
आस्तिक्यमुद्यमो नित्यं नैपुणं वैश्यलक्षणम्।।२३।।

शौर्य-युद्धोत्साह,वीर्य(प्रभाव)धैर्य,तेजः(प्रगल्भता)दान,आत्मजय,क्षमा,ब्रह्मण्यता एवं सत्य ये सब क्षत्रिय के लक्षण हैं। देव,गुरु,विष्णु के प्रति

भक्ति,धर्म,अर्थ,काम यह तीन वर्ग का पोषण,आस्तिक्य,नित्य उद्यम एवं नैपुण्य,ये सब वैश्य के लक्षण हैं।।२२-२३।।

शूद्रस्य संनतिः शौचं सेवा स्वामिन्यमायया।
अमन्त्रयज्ञो ह्यस्तेयं सत्यं गोविप्ररक्षणम्।।२४।।

साधु विप्र को प्रणाम,शौच,निष्कपट से प्रभु की सेवा,अमन्त्रयज्ञ,अर्थात् नमस्कार मन्त्र के द्वारा पञ्च यज्ञानुष्ठान,अस्तेय,सत्य एवं गो-ब्राह्मण की रक्षा ये सब शूद्र के लक्षण हैं।।२४।।

स्त्रीणां च पतिदेवानां तच्छुश्रूषानुकूलता।
तद्बन्धुष्वनुवृत्तिश्च नित्यं तद्व्रतधारणं।।२५।।

अनन्तर नारी धर्म को कहते हैं-पति शुश्रूषा,पति के अनुकूलवर्त्तिनी होना,पति बन्धु की अनुवृत्ति,नित्य पति का नियम धारण,ये चार नारी के लक्षण एवं धर्म हैं।।२५।।

सम्मार्जनोपलेपाभ्यां गृहमण्डनवर्त्तनैः।
स्वयं च मण्डिता नित्यं परिमृष्टपरिच्छदा।।२६।।
कामैरुच्चावचैः साध्वी प्रश्रयेण दमेन च।
वाक्यैः सत्यैः प्रियैः प्रेम्णा काले काले भजेत् पतिम्।।२७।।

उक्त धर्म चतुष्टय विशिष्टा साध्वी नारी स्वयं मण्डित होकर सम्मार्जन,उपलेपन,गृहमण्डन,एवं गृह सुगन्धीकरण,तथा उच्चावच काम,विनय,दम, सत्य,अथच प्रियवाक्य एवं प्रेम इस सबके द्वारा समय-समय में पति की सेवा करे और गृह के

उपकरणो को परिष्कार रखे।।२६-२७।।

सन्तुष्टालोलुप्ता दक्षा धर्मज्ञा प्रियसत्यवाक्।
अप्रमत्ता शुचिः स्निग्धा पतिं त्वपतितं भजेत्।।२८।।

यथालाभ मे सन्तुष्ट होना,भोग के प्रति लोलुप न होना,सदा आलस्यहीन होना,धर्मज्ञ होना,सतत सत्य,अथच प्रियवाक्य कहना,सकल विषय मे अवहित रहना,सर्वदा शुचि एवं स्निग्ध होकर महापातक शून्य पति का भजन करना नारी का धर्म है।।२८।।

या पतिं हरिभावेन भजेच्छ्रीरिव तत्परा।
हर्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिव मोदते।।२९।।

जो नारी लक्ष्मी की भाँति तत्परा होकर हरिभाव से पति की सेवा करती है,वह लक्ष्मी के तुल्य श्रीहरि स्वरूप पति के साथ हरि लोक मे आमोदिता होती है।।२९।।

वृत्तिःसंकरजातीनां तत्तत्कुलकृता भवेत्।
अचौराणामपापानामन्त्यजान्तेऽवसायिनाम्।।३०।।

अनुलोम एवं प्रतिलोम रूप से उत्पन्न मानवो के धर्म को कहते हैं-जीव हिंसाकारी पापाचरणरत व्यक्ति भिन्न,एवं चोरी व्यवसायी भिन्न मानवों का धर्म,कुल परम्परा से प्राप्त जो मान्यता है जिस प्रकार रजक,नापित,चर्मकार,नट,बरुड़,केवर्त,मेद, भिल्लादि तथा चाण्डाल प्रभृति के निज-निज कुल परम्परा प्राप्त वृत्ति ही धर्म है,इस प्रकार विधवा विवाह उन सबमे धर्म है किन्तु

चोरी करना एवं हिंसादि पापाचरण किसी-किसी के कुल परम्परा प्राप्त होने पर भी उसका अनुवर्त्तन करना निषिद्ध है कारण वह धर्म विधान प्राप्त नही है।।३०।।

प्राय: स्वभावविहितो नृणां धर्मो युगे युगे।
वेददृग्भि: स्मृतो राजन् प्रेत्य चेह च शर्मकृत्।।३१।।

परधर्म श्रेष्ठ होने पर भी एवं निज कुल परम्परा प्राप्त धर्म उससे निम्नतर होने वर भी उत्तम परधर्म का आचरण न करे। निज धर्म में आरूढ़ रहन ही श्रेयस्कर है परधर्म भयावह है। मनुष्यों के स्वभाव अर्थात् सत्त्व रज: तम:प्रभृति के द्वारा युग-युग में जो धर्म विहित है वेददर्शि ऋषिगण के मत में वह धर्म ही जीवन काल मे एवं मृत्युत्तर काल में सुखद है। अतएव सात्त्विक प्रभृति के व्यक्ति यदि कुल परम्परा प्राप्त धर्म,दुराचार को छोड़कर सात्त्विक वृत्ति को अवलम्बन करता है तो वह धर्म उसके लिए परम हितकर होगा,अधर्म नही होगा।।३१।।

वृत्त्या स्वभावकृतया वर्तमान: स्वधर्मकृत्।
हित्वा स्वभावजं कर्म शनैर्निर्गुणतामियात्।।३२।।

स्वभाव विहित कर्म तो संसार बन्ध का हेतु ही है,तब कैसे कहा जायेगा कि स्वभाव विहित धर्म श्रेयस्कर होगा? उत्तर में कहते हैं-स्वकर्मकारी व्यक्ति स्वभाव कृता वृत्ति के द्वारा होने पर अपने स्वभावज कर्म को त्याग कर कमश: निर्गुणत्व को प्राप्त करता है। कहा गया है कि स्वधर्मनिष्ठ व्यक्ति स्वधर्माचरण के

बाद ब्रह्मत्व को प्राप्त करता है उसके बाद ही शिवत्व एवं भगवत् पार्षदत्व प्राप्त करता है।।३२।।

उप्यमानं मुहुः क्षेत्रं स्वयं निर्वीर्यतामियात्।
न कल्प्यते पुनः सूत्यै उप्तं बीजं च नश्यति।।३३।।
एवं कामाशयं चित्तं कामानामतिसेवया।
विरज्येत यथा राजन्नाग्निवत् कामविन्दुभिः।।३४।।

अति उत्कट वासना विशिष्ट व्यक्ति वेदोक्त कर्माचरण द्वारा काम्य कर्म का त्याग करने में समर्थ नहीं है एवं अनेक निषिद्ध कर्म भी सौभरि ययाति की भाँति उससे अनुष्ठित होते रहेंगे,तब कैसे कहेंगे कि काम्य कर्म करते-करते चित्त निर्गुण होगा ? उत्तर में कहते हैं-अकुटिल चित्त के लिए काम्य कर्म के पश्चात् चित्त निर्गुण होता है,जिस प्रकार ययाति सौभरि का हुआ था । उदाहरण के द्वारा स्पष्टीकरण कर रहे हैं। उपस्थ कर्म एवं जिह्वा कर्म को बहुमान प्रदान करने पर चित्त निर्गुण नहीं होता है और उसका महत्त्व को स्वीकार न करने पर चित्त सत्त्वर निर्गुण होता है जिस प्रकार उर्बर खेत में बारम्बार बीज वपन करने पर वह स्वयं निर्वीर्य हो जाता है एवं पुनर्वार शस्य उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होती है वरं जो बीज उसमें वपन किया जाता है वह भी नष्ट हो जाता है । इस प्रकार अति उत्कट काम वासना विशिष्ट चित्त के लिए अति उत्कट काम भोग ही निवृत्ति के लिए कारण होगा। वृहद् वासना में विन्दु मात्र भोग से वासना की निवृत्ति नहीं होती है

जिस प्रकार घृत विन्दु से अग्नि अधिक प्रज्वलित होती है किन्तु सहसा अधिक घृत प्रदान से अग्नि निर्वापित हो जाती है। प्रह्लादजी ने कौमार काल में बालकों के प्रति निवृत्ति धर्म रूप भागवत धर्म का उपदेश किया था उसका कारण है बालकगण अदूषित बुद्धि के होते हैं, अतएव मन्द वासना के कारण ही भागवत धर्म श्रवण के अधिकारी बालकगण हुए थे।।३३-३४।।

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्।

यदन्यत्रापि दृश्येत तत् तेनैव विनिर्दिशेत्।।३५।।

ब्राह्मण,क्षत्रिय,वैश्य,शूद्र के लिए वर्णाश्रम प्रकाशक गुण कर्म के द्वारा जो-जो वर्णाश्रम विहित हुआ है वह धर्म जाति की भाँति उन सबके एकाधिकार प्राप्त नहीं है। किन्तु यदि निष्कपट भाव से वर्णान्तर में ब्राह्मणोचित गुण ब्राह्मणेतर में दृष्ट होता है तो वह व्यक्ति उन लक्षण शमदमादि सम्पन्न होने पर किन्तु केवल सन्ध्योपासनादि युक्त होने से नहीं जात्यन्तर होने पर भी उसको ब्राह्मण शब्द से ही उल्लेख करें अर्थात् उसको ब्राह्मणोचित आदर प्रदान करें किन्तु साधन के द्वारा अभिमानी होने पर सम्मान प्रदान न करें। अतएव शमदमादि लक्षण द्वारा ब्राह्मणादि व्यवहार मुख्य है और जन्ममात्र निबन्धन ब्राह्मणादि व्यवहार अप्रशस्त है। इसप्रकार कुल परम्परा प्राप्त साधुता,धार्मिकता,पूज्यता को भी जानना होगा।।३५।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

वैयासिक्यां सप्तमस्कन्धे सदाचार निर्णय

एकादशोऽध्यायः।।११।।

-**-

द्वादशोऽध्यायः

-**-

श्रीनारद उवाच

ब्रह्मचारी गुरुकुले वसन् दान्तो गुरोर्हितम्।

आचरन् दासवन्नीचो गुरौ सुदृढसौहृदः।।१।।

द्वादश अध्याय में ब्रह्मचारी एवं वानप्रस्थ का असाधारण धर्म एवं आश्रम चतुष्टय का साधारण धर्म वर्णित है। श्रीनारदजी ने कहा-हे राजन्! ब्रह्मचारी गुरुगृह में रहकर गुरु प्रभृति की उपासना करे और इन्द्रिय दमन,गुरु के हिताचरण,गुरु के निकट दासवत् नम्रता आचरण,एवं गुरु के साथ दृढ़ सौहार्दय पूर्ण आचरण करे।।१।।

सायं प्रातरुपासीत गुर्वग्न्यर्कसुरोत्तमान्।

उभे सन्ध्ये च यतवाग् जपन् ब्रह्म समाहितः।।२।।

गुरु,अग्नि,सूर्य तथा देवतावृन्द की उपासना एवं गायत्री जप करके त्रिसन्ध्या सन्ध्यावन्दन करे एवं सायंकाल तथा प्रातःकाल उभय सन्ध्या में यतवाक् अर्थात् मौनी रहे।।२।।

छन्दांस्यधीयीत गुरोराहूतश्चेत् सुयन्त्रितः।

उपक्रमेऽवसाने च चरणौ शिरसा नमेत्।।३।।

श्रीगुरुदेव के बुलाने पर उनके निकट जाकर ससंयत होकर निज वेदाध्ययन करे। अध्ययन के उपक्रम में एवं अवसान में मस्तक द्वारा स्पर्शपूर्वक श्रीगुरुचरणों में प्रणाम करे।।३।।

मेखलाजिनवासांसि जटादण्डकमण्डलून्।
बिभृयादुपवीतं च दर्भपाणिर्यथोदितम्।।४।।
सायं प्रातश्चरेद्भैक्षं गुरवे तन्निवेदयेत्।
भुञ्जीत यद्यनुज्ञातो नो चेदुपवसेत् क्वचित्।।५।।

उपनयन के समय धारणीय शरपत्रादि निर्मित सूत्रमय मेखला अजिन मृगचर्म वसन,केश प्रसाधन के अभाव से जटा,दण्ड,कमण्डलु,तथा यथाविहित उपवीत धारण करे,सदा कुश हाथ में रखे,सायंकाल एवं प्रातःकाल में भिक्षा करके भिक्षा लब्ध वस्तु श्रीगुरुदेव को अर्पण करे। गुरुदेव के निकट से अनुज्ञा प्राप्त होने पर स्वयं भोजन करे,अन्यथा उपवास करके दिनातिपात करे।।४-५।।

सुशीलो मितभुक् दक्षः श्रद्दधानो जितेन्द्रियः।
यावदर्थं व्यवहरेत् स्त्रीषु स्त्रीनिर्जितेषु च।।६।।

सुशील,परिमिताहारी, कार्य में दक्ष,श्रद्धाशील एवं जितेन्द्रिय होकर नारियों के निकट एवं स्त्रैण व्यक्तियों के निकट निज प्रयोजन रूप ही व्यवहार करे।।६।।

वर्जयेत् प्रमदागाथामगृहस्थो बृहद्व्रतः।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्त्यपि यतेर्मनः।।७।।

केशप्रसाधनोन्मर्दस्नपनाभ्यञ्जनादिकम् ।

गुरुस्त्रीभिर्युवतिभिः कारयेन्नात्मनो युवा ।।८।।

गृहस्थ भिन्न समस्त आश्रम को वृहद्वृति कहा जाता है। गृहस्थ भिन्न ब्रह्मचर्यवान् समस्त व्यक्ति के लिए प्रमदा गाथा वर्जनीय है कारण इन्द्रियगण अतिशय बलवती होती हैं,यति व्यक्ति का भी मनोहरण करने में वे सब समर्थ है। युवा ब्रह्मचारी व्यक्ति युवती गुरूपत्नी गण के द्वारा कभी भी निज केश प्रसाधन,गात्रमर्दन,स्नपन तथा अभ्यञ्जनादि कर्म न करावे।।७-८।।

नन्वग्निः प्रमदा नाम घृतकुम्भसमः पुमान्।

सुतामपि रहो जह्यादन्यदा यावदर्थकृत्।।९।।

कारण युवती अग्नि के समान है एवं पुरुष घृत विन्दु के तुल्य है। अतएव निर्जन में कन्याके साथ भी अवस्थान न करे,अनिर्जन स्थान में भी जब तक रहने से अपना व्यवहार निष्पन्न होता है तब तक अवस्थान करे।।९।।

कल्पयित्वाऽऽत्मना यावदाभासमिदमीश्वरः।

द्वैतं तावन्न विरमेत् ततो ह्यस्य विपर्ययः।।१०।।

जितेन्द्रिय एवं अभिमान शून्य ज्ञानी व्यक्ति के लिए युवती क्या कर सकती है उसके साहचर्य को निषिद्ध क्यों कहा गया है? यद्यपि स्त्री प्रभृति मिथ्या एवं पाप जनकत्व बुद्धि से स्वयं ही परित्यक्त होगी? कहना तो ठीक है किन्तु ज्ञानी अपने को ज्ञान

साधन के द्वारा विषयाभिमानशून्य मान ही लेता है वस्तुतः वैसी स्थिति नहीं है। जब तक मन के साथ शरीर में वह ज्ञानी रहता है तब तक ही मैं पुरुष हूं वह स्त्री है, यह मेरी प्रिय है इस प्रकार बुद्धि रहेगी ही अतएव पूर्ववत् संसार की आवृत्ति होगी ही। यदि ऐसा कहो कि कन्या भगिनी बन्धुवर्ग को छोड़कर मैं जितेन्द्रिय हो गया हूं, मुझे भय किस बात का? यह कल्पना मात्र है, वस्तुस्थिति नहीं है कारण व्यवहारिक वस्तु को छोड़ने से ही त्यागी नहीं होता है। यह मेरी भगिनी है, यह मेरी माता है, यह कन्या है इस प्रकार सम्बन्धाभास की कल्पना से भी प्रसन्नता अप्रसन्नता मनमें जब तक होगी तब तक द्वैत भेद का विराम नहीं होगा। यदि कहो यह तो छोटी-सी बात है और भेद सब कल्पित है ? ऐसा कहना अनुचित है। साहचर्य से योग्यता की बृद्धि होगी और संसार अवश्यम्भावी है अतएव स्त्रियों के साथ अवस्थानादि त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है।।१०।।

एतत् सर्वं गृहस्थस्य समाम्नातं यतेरपि।
गुरुवृत्तिर्विकल्पेन गृहस्थस्यर्तुगामिनः।।११।।

हे राजन्' ब्रह्मचारी के लिए जो कुछ धर्म कहा गया है वह सब गृहस्थ एवं यति के लिए भी विहित है। जो गृहस्थ होकर भी ऋतु काल में स्वीय स्त्रीगमन करता है उसके लिए वह ही ब्रह्मचर्य वृत है।।११।।

अञ्जनाभ्यञ्जनोन्मर्दस्त्र्यवलेपामिषं मधु।

स्रग्गन्धलेपालंकारांस्त्यजेयुर्ये धृतव्रता:।।१२।।

जो जन ब्रह्मचर्य व्रतशाली है वह नेत्र में अञ्जन, मस्तक में तैलाभ्यञ्जन, गात्र सम्वाहन, स्त्री का चित्र दर्शन, आमिष अर्थात् मत्स्य मांसादि, मधु, माल्यगन्ध, अनुलेपन एवं अलंकरण को परित्याग करे। आपत्काल उपस्थित होने पर भी परिचर्या ग्रहण न करे।।१२।।

उषित्वैवं गुरुकुले द्विजोऽधीत्यावबुध्य च।

त्रयीं साङ्गोपनिषदं यावदर्थं यथाबलम्।।१३।।

ब्रह्मचारी उक्त रीति से गुरुगृह में रहकर शिक्षादि ग्रन्थ के साथ उपनिषद् वेदत्रय का अध्ययन करके निज सामर्थ्य के अनुसार वेदार्थ का विचार करे।।१३।।

दत्त्वा वरमनुज्ञातो गुरो: कामं यदीश्वर:।

गृहं वनं वा प्रविशेत् प्रव्रजेत् तत्र वा वसेत्।।१४।।

समर्थ होने पर गुरु जो कुछ दक्षिणा के हेतु कहते हैं उसे प्रदान कर अनुमति ग्रहण करके गृहस्थाश्रम को ग्रहण करे अथवा वानप्रस्थाश्रम के लिए वन गमन करे किम्वा परिव्राजक होने के लिए प्रव्रज्या करे अथवा नैष्ठिक ब्रह्मचारी होकर यावज्जीवन गुरुकुल में वास करे।।१४।।

अग्नौ गुरावात्मनि च सर्वभूतेष्वधोक्षजम्।

भूतै: स्वधामभि:पश्येदप्रविष्टं प्रविष्टवत्।।१५।।

वह व्यक्ति जिस आश्रम में प्रविष्ट हो अग्नि, गुरु, आत्मा, एवं निखिल जीवगण के आश्रय एवं निज आश्रय

रूप भगवान् अधोक्षज को सबके नियन्ता रूप तें सर्वत्र अवस्थित देखे।।१५।।

एवंविधो ब्रह्मचारी वानप्रस्थो यतिर्गृही।

चरन् विदितविज्ञानः परं ब्रह्माधिगच्छति।।१६।।

ब्रह्मचारी,वानप्रस्थ,यति,गृही उक्त प्रकार आचरण रत होकर विज्ञेय वस्तु को जानकर परम ब्रह्म को जान सकते हैं।।१६।।

वानप्रस्थस्य वक्ष्यामि नियमान् मुनिसम्मतान्।

यानातिष्ठन् मुनिर्गच्छेदृषिलोकमिहाञ्जसा।।१७

अतःपर वानप्रस्थाश्रमी मुनि समस्त के नियमों को कहता हूँ जिसके अवलम्बन से वह व्यक्ति महर्लोक को प्राप्त होता है।।१७।।

न कृष्टपच्यमश्नीयादकृष्टं चाप्यकालतः।

अग्निपक्वमथामं वा अर्कपक्वमुताहरेत्।।१८।।

कृषि से उत्पन्न शस्यादि एवं असमय में पका हुआ शस्यादि,अग्नि पक्व एवं अपक्व फलादि का भोजन न करे केवल सूर्यपक्व फलादि के द्वारा ही जीविका निर्वाह करे।।१८।।

वन्यैश्चरुपुरोडाशान् निर्वपेत् कालचोदितान्।

लब्धे नवे नवेऽन्नाद्ये पुराणं तु परित्यजेत्।।१९।।

वन्य नीवारादि धान्य के द्वारा नित्य चरू पुरोडाशादि का निर्वाह करे,नूतन-नूतन अन्नादि लाभ होने पर पूर्व सञ्चित अन्नादि का परित्याग करे।।१९।।

अग्न्यर्थमेव शरणमुटजं वाद्रिकन्दराम्।

श्रयेत हिमवाय्वग्निवर्षार्कातपपाद् स्वयम्।।२०।।

अग्नि रक्षा के लिए वानप्रस्थाश्रमी गृह पर्ण कुटीर किम्वा गिरि गह्वर को ग्रहण करे अन्यथा स्वयं हिम,वायु,अग्नि,वर्षा तथा सूर्यातप को ग्रहण करे।।२०।।

केशरोमनखश्मश्रुमलानि जटिलो दधत्।

कमण्डल्वजिने दण्डवल्कलाग्निपरिच्छदाम्।।२१।।

वानप्रस्थाश्रमी जटिल होकर केश,रोम,नख,श्मश्रु तथा अप्रक्षालन द्वारा शरीर का मालिन्य धारण करे एवं कमण्डलु अजिन-मृगचर्म,दण्ड,वल्कल एवं अग्नि परिच्छद को धारण करे।।२१।।

चरेद् वने द्वादशाब्दानष्टौ वा चतुरो मुनिः।

द्वावेकं वा यथाबुद्धिर्न विपद्येत कृच्छ्रतः।।२२।।

वानप्रस्थाश्रमी व्यक्ति द्वादश,अष्ट,चार,दो अथवा एककाल वन में रहकर तपस्या करे किन्तु तपस्या के क्लेश से बुद्धि नष्ट न हो उसके लिए सावधान रहे।।२२।।

यदाकल्पः स्वक्रियायां व्याधिभिर्जरयाथवा।

आन्वीक्षिक्यां वा विद्यायां कुर्यादनशनादिकम्।।२३।।

जिस समय व्यक्ति बार्द्धक्य अथवा जरादिवशतः निज अनुष्ठान में एवं ज्ञानाभ्यास में असमर्थ हो जाय उस समय अनशनादि के द्वारा जीवन को त्याग करे।।२३।।

आत्मन्यग्नीन् समारोप्य सन्न्यस्याहंममात्मताम्।

कारणेषु न्यसेत् सम्यक् संघातं तु यथार्हत:।।२४।।

उस समय आत्मा को अग्नि में समारोपण करके मैं मेरा इस प्रकार अभिमान को परित्याग करे एवं देह के निज-निज कारण आकाशादि में विलीन करे।।२४।।

खे खानि वायौ नि:श्वासांस्तेजस्यूष्माणमात्मवान्।
अप्स्वसृक्श्लेष्मपूयानि क्षितौ शेषं यथोद्भवम्।।२५।।

शरीर की उत्पत्ति जिस प्रकार हुई है उसी क्रम से पदार्थ को निज-निज कारण में लीन करे। शरीरस्थ छिद्र को आकाश में,नि:स्वास को वायु में,उष्मा को तेज में,शुक्र शोणित श्लेष्मादि को जल में एवं अवशिष्ट अस्थि मांसादि कठिनांश को पृथ्वी में विलीन करे।।२५।।

वाचमग्नौ सवक्तव्यामिन्द्रे शिल्पं करावपि।
पदानि गत्या वयसि रत्योपस्थं प्रजापतौ।।२६।।

वाक्य के साथ वाग् इन्द्रिय को अग्नि में,शिल्प के साथ हस्तद्वय को इन्द्र में,गति के साथ पदद्वय को विष्णु में,एवं रति के साथ उपस्थ को प्रजापति में लीन करे।।२६।।

मृत्यौ पायुं विसर्गं च यथास्थानं विनिर्दिशेत्।
दिक्षु श्रोत्रं सनादेन स्पर्शमध्यात्मनि त्वचम्।।२७।।

विसर्ग के साथ पायु को मृत्यु में,शब्द के साथ श्रोत्र को दिक् समूह में,स्पर्श के साथ त्वक् इन्द्रिय को वायु में लीन करे।।२७।।

रूपाणि चक्षुषा राजन् ज्योतिष्यभिनिवेशयेत्।
अप्सु प्रचेतसा जिह्वां घ्रेयैर्घ्राणं क्षितौ न्यसेत्।।२८।।

चक्षु के साथ रूप को सूर्य में,रस एवं गन्ध इन्द्रियों को विशेष रूप से आकर्षण करते हैं अतएव उन दोनो को देवता के साथ ही इन्द्रिय को विषय में लीन करे। वरुण के साथ जिह्वा को जल में एवं अश्विनी कुमार के साथ घ्राण को भूमि में विलीन करे।।२८।।

मनो मनोरथैश्चन्द्रे बुद्धिं बोध्यैः कवौ परे।
कर्माण्यध्यात्मना रुद्रे यदहंममताक्रिया।
सत्त्वेन चित्तं क्षेत्रज्ञे गुणैर्वैकारिकं परे।।२९।।

मननीय विषय के साथ मनको चन्द्रमा में,बोध्य पदार्थ के साथ बुद्धि को ब्रह्मा में,अहंकार के साथ कर्म सकल को रुद्र में लीन करे। वह रुद्र से ही "मैं-मेरा" इत्यादि ज्ञानपूर्विका क्रिया होती है। तदनन्तर चेतना के साथ चित्त को क्षेत्रज्ञ में लीन करे,एवं गुण कार्य देवगण के साथ भोक्ता अभिमान से विकार प्राप्त क्षेत्रज्ञ रूप जीव को ब्रह्म में लीन करे।।२९।।

अप्सु क्षितिमपो ज्योतिष्यदो वायौ नभस्यमुम्
कूटस्थे तच्च महति तदव्यक्तेऽक्षरे च तत्।।३०।।

ऐसा होने पर भी अद्वय ब्रह्म ज्ञान कैसे होगा? पृथ्वी प्रभृति समष्टि तत्त्व समूह की विद्यमानता होती ही है? उद्भव एवं लय को जानकर ही अद्वय ज्ञान का अधिकारी होता है। इस प्रकार पृथिवी

को जल में, जल को तेज में, तेज को वायु में, वायु को आकाश में, आकाश को कूटस्थ अहंकार तत्त्व में, अहंकार तत्त्व को महत्तत्व में, महत्तत्व को प्रधान प्रकृति में, प्रधान को परमात्मा में लीन करे।।३०।।

इत्यक्षरतयाऽऽत्मानं चिन्मात्रमवशेषितम्।
ज्ञात्वाद्वयोऽथ विरमेद् दग्धयोनिरिवानल:।।३१।।

इस प्रकार से सकल उपाधि का लय होने पर अवशिष्ट चिन्मात्र क्षेत्रज्ञ आत्मा को अक्षर स्वरूप में अवगत होकर द्वैत रहित होकर दग्ध काष्ठ अग्नि की भाँति सब प्रकार से विरत होवे।।३१।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां सप्तमस्कन्धे नारद सम्वादे
आश्रमधर्मो द्वादशोऽध्याय:

-**-

त्रयोदशोऽध्याय:

-*-

श्रीनारद उवाच

कल्पस्त्वेवं परिव्रज्य देहमात्रावशेषित:।
ग्रामैकरात्रविधिना निरपेक्षश्चरेन्महीम्।।१।।

त्रयोदश में साधक यति का धर्म एवं अवधूत के इतिहास

वर्णन द्वारा सिद्धावस्था का वर्णन करते हैं-श्रीनारदजी ने कहा;-हे राजन्! स्वरूपानुसन्धात्मक ज्ञानाभ्यास परायण व्यक्ति स्वरूप चिन्तारत होकर सन्यास आश्रम को ग्रहण करे,अनशन प्रभृति का अनुष्ठान करे,एवं देह को छोड़कर समस्त वस्तु को परित्याग करे। कदाचित् ग्राम में उपस्थित होने पर एक रात ही अवस्थान करे अन्यथा निरपेक्ष होकर पृथिवी में सर्वत्र भ्रमण करे। इस विवरण को नौ श्लोकों में कहते हैं।।१।।

बिभृयाद् यद्यसौ वासः कौपीनाच्छादनं परम्।
त्यक्तं न दण्डलिङ्गादेरन्यत् किंचदनापदि।।२।।
एक एव चरेद् भिक्षुरात्मारामोऽनपाश्रयः।
सर्वभूतसुहृच्छान्तो नारायणपरायणः।।३।।

यदि वस्त्र धारण करे तो आच्छादन के लिए कौपीन मात्र ही ग्रहण करे प्रैषोच्चारण पूर्वक सब कुछ परित्याग करे केवल दण्डादि चिह्न धारण करे,आपद् काल को छोड़कर अन्य समय में परित्यक्त विषयों को ग्रहण न करे,आपद् काल में देह रक्षा के लिए परित्यक्त वस्तु को ग्रहण करे। व्यावहारिक जन सङ्ग को परित्याग करे,भिक्षाजीवी होकर एकक भ्रमण करे,कहीं पर आश्रय ग्रहण न करे और आत्माराम,सर्वभूतों का सुहृद्,शान्त एवं नारायण परायण होवे।।२-३।।

पश्येदात्मन्यदो विश्वं परे सदसतोऽव्यये।
आत्मानं च परं ब्रह्म सर्वत्र सदसन्मये।।४।।

इस विश्व को कार्य कारण व्यतिरिक्त अव्यय आत्मा में दर्शन करे एवं परब्रह्म रूप आत्मा को कार्य कारण मय समस्त जगत् में देखे।।४।।

सुप्तप्रबोधयो: सन्धावात्मनो गतिमात्मदृक्।
पश्यन् बन्धं च मोक्षं च मायामात्रं न वस्तुत:।।५।।

आत्मा को परब्रह्म रूप में भावना करना सम्भव कैसे होगा, दोनों का सामानाधिकरण्य सम्भव नहीं है, बन्ध और मुक्त एक स्थान भागी नहीं हो सकते हैं? कहते हैं-सुषुप्ति समय में आत्म तत्त्व घोरतमावृत होता है, जाग्रत स्वप्न समय में विक्षिप्त अवस्था होती है, सन्धि समय में अर्थात् सुषुप्ति एवं जागरण के सन्धि समय में जब तम: अथवा विक्षेप दोनों नहीं रहते हैं उस समय आत्मा को लक्ष्य करके अवस्थित होकर आत्म तत्त्व का दर्शन करे अतएव बन्ध एवं मोक्ष को माया मात्र ही जाने और आत्मा को परब्रह्म रूप में देखे। योग ग्रन्थ में कथित है-निद्रा के पहले एवं जागरण के बाद जो भाव रहता है उसकी चिन्ता निरन्तर करे इससे योगी मुक्त हो जाता है।।५।।

नाभिनन्देद् ध्रुवं मृत्युमध्रुवं वास्य जीवितम्।
कालं परं प्रतीक्षेत भूतानां प्रभवाप्ययम्।।६।।

शरीर की मृत्यु अवश्यम्भावी है, जानकर भी आनन्दित न होना एवं अनिश्चित जीवन प्राप्त कर भी आनन्दित न होना, जिससे समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं एवं विनष्ट होते हैं उस काल की ही

प्रतीक्षा करे।।६।।

नासच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत जीविकाम्।

वादवादांस्त्यजेत् तर्कान् पक्षं कं च न संश्रयेत्।।७।।

असत् शास्त्र अर्थात् आत्मविचार हीन शास्त्र में आसक्त होना उचित नहीं है। ज्योतिष विद्या,सामुद्रिक विद्या के द्वारा जीविका अर्जन न करे,जल्पवितण्डादि निष्ठ तर्क समूह को परित्याग करे,अत्यन्त आग्रह से किसी पक्ष को ग्रहण न करे।।७।।

न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद् बहून्।

न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत् क्वचित्।।८।।

प्रलोभन देकर अथवा बल पूर्वक किसी को भी शिष्य न करे,जीविका के लिए अनेक ग्रन्थों का अभ्यास न करे,सम्मान प्रतिष्ठा अर्थोपार्जन के उद्देश्य से शास्त्र व्याख्या न करे एवं जीविका के लिए कहीं पर मठ मन्दिरादि के निर्माण का शुभारम्भ न करे। अयोग्य शिष्य करने से धर्म हानि,जीविका हेतु मठ मन्दिर शास्त्र व्याख्या करने पर नरक अनिवार्य है।।८।।

न यतेराश्रमः प्रायो धर्महेतुर्महात्मनः।

शान्तस्य समचित्तस्य बिभृयादुत वा त्यजेत्।।९।।

कुटीचक,बहूदक,हंस,परमहंस भेद से सन्यास की चार अवस्था होती हैं-आत्म तत्त्वज्ञ को हंस कहा जाता है,इस प्रकार सन्यासी के मध्य में परमहंस के लिए विशेष विधान देते हैं। शान्त समचित्त परमहंस के लिए आश्रम प्रायकर धर्म के हेतु नहीं

उन्मत्त बालक के समान व्यक्त करेंगे। स्वयं पण्डित होकर भी लोगों के समक्ष में अपने को मूक के समान प्रकट करेगा। अर्थात् लोक उनको देखकर उन्मत्त बालक की भाँति मानने लगेंगे।।१०।।

अथाप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
प्रह्लादस्य च संवादं मुनेराजगरस्य च।।११।।

हे राजन्! इस विषय में प्रह्लाद एवं अजगर व्रती मुनि के सम्वाद में एक प्राचीन इतिहास है। उदाहरण स्वरूप उसको कहता हूँ,श्रवण करें।।११।।

तं शयानं धरोपस्थे कावेर्यां सह्यसानुनि।
रजस्वलैस्तनूदेशैर्निगूढामलतेजसम् ।।१२।।
ददर्श लोकान् विचरँल्लोकतत्त्वविवित्सया।
वृतोऽमात्यैः कतिपयैः प्रह्लादो भगवत्प्रियः।।१३।।

एकदा अजकर व्रती मुनि कावेरी नदी के निकट सह्य पर्वत के तटस्थल में सोये हुए थे। उनके शरीर के अवयव धूलि धूसरित रहे अमल तेज निगूढ़ रहा,उस समय भगवत्प्रिय प्रह्लाद ने कतिपय अमात्य से परिवृत होकर लोकतत्त्व ज्ञानेच्छु होकर भ्रमण करते-करते उस स्थान में उपस्थित होकर उक्त मुनि को देखा।।१२-१३।।

कर्मणाऽऽकृतिभिर्वाचा लिङ्गैर्वर्णाश्रमादिभिः।
न विदन्ति जना यं वै सोऽसाविति न वेति च ।।१४।।
तं नत्वाभ्यर्च्य विधिवत् पादयोः शिरसा स्पृशन्।

विवित्सुरिदमप्राक्षीन्महाभागवतोऽसुरः ।।१५।।

कर्म,आकृति,वाक्य एवं वर्णाश्रमादि के चिह्न के द्वारा लोक उनको वह यह है अथवा नहीं ? इस प्रकार से पहचान नहीं पाते थे। महाभागवत प्रह्लाद का चित्त आकृष्ट हो जाने से प्रह्लाद उनको पहचान पाये और नमस्कार कर यथाविधि मस्तक द्वारा उनके चरण स्पर्श कर विशेष तत्त्व जानने की इच्छा से उन्होंने जिज्ञासा की।।१४-१५।।

बिभर्षि कायं पीवानं सोद्यमो भोगवान् यथा।
वित्तं चैवोद्यमवतां भोगो वित्तवतामिह।
भोगिनां खलु देहोऽयं पीवा भवति नान्यथा।।१६।।

ब्रह्मन्! उद्यमशील एवं भोगवान् की भाँति आपने स्थूल शरीर धारण किया है इसका कारण क्या है? प्रभो! उद्यमशील व्यक्तियों का धन,धनवान् लोक का भोग एवं भोगवान व्यक्ति का देह स्थूल होता है,भोग के बिना शरीर स्थूल नहीं होता है।।१६।।

न ते शयानस्य निरुद्यमस्य ब्रह्मन् नु हार्थो यत एव भोगः।
अभोगिनोऽयं तव विप्र देहः पीवा यतस्तद्वद नः क्षमं चेत्।।१७।।

कविः कल्पो निपुणदृक् चित्रप्रियकथः समः।
लोकस्य कुर्वतः कर्म शेषे तद्वीक्षितापि वा।।१८।।

हे विद्वन्! आप निरूद्यम होकर सोये हुए हैं इसमें वित्त का उपयोग होता है वह आपका नही है मैं निश्चित रूप से उसको

ब्रह्मन्' उद्यमशील एवं भोगवान् की भाँति आपने स्थूल शरीर धारण किया है इसका कारण क्या है? प्रभो' उद्यमशील व्यक्तियो का धन, धनवान् लोक का भोग एवं भोगवान व्यक्ति का देह स्थूल होता है, भोग के बिना शरीर स्थूल नहीं होता है।।१६।।

न ते शयानस्य निरुद्यमस्य ब्रह्मन् नु हार्थो वत एव भोगः।

अभोगिनो ऽयं तब विप्र देहः पीवा यतस्तद्वद् नः क्षमं चेत्।।१७।।

कविः कल्पो निपुणदृक् चित्रप्रियकथः समः।

लोकस्य कुर्वतः कर्म शेषे तद्वीक्षितापि वा।।१८।।

हे विद्वन्' आप निरुद्यम होकर सोये हुए हैं इसमें वित्त का उपयोग होता है वह आपका नही है मैं निश्चित रूप से उसको जानता हूँ। जो भी हो, भोग के बिना आपका यह शरीर जिस कारण से स्थूल होता जा रहा है उसको जानने की मेरी इच्छा हो रही है कृपया आप कहें। प्रभो' आप विद्वान्, दक्ष, चतुर, लोकरञ्जन की बात कहना जानते हैं, लोक सब कर्म कर रहे हैं यह देखकर भी आप निरूद्यम होकर सोये है? लोक तो अर्थोपार्जन में अयोग्य होने पर भी अर्थोपार्जन हेतु उद्यम करते हैं, आपतो समर्थ होकर भी क्यो निरूद्यम होकर अवस्थित हैं?।।१७-१८।।

श्रीनारद उवाच

स इत्थं दैत्यपतिना परिपृष्टो महामुनिः।

स्मयमानस्तमभ्याह तद्वागमृतयन्त्रितः।।१९।।

श्रीनारदजी ने कहा-दैत्यपति प्रह्लाद के उस प्रकार पूछने पर अजगरव्रति महामुनि विस्मित एवं प्रह्लाद जी की अमृतमय वाणी से वशीभूत होकर कहे थे।।१९।।

श्रीब्राह्मण उवाच

वेदेदमसुरश्रेष्ठ भवान् नन्वार्यसम्मतः।

ईहोपरमयोर्नृणां पदान्यध्यात्मचक्षुषा।।२०।।

श्रीब्राह्मण ने कहा-हे असुरश्रेष्ठ! आपने अन्तर्दृष्टि के द्वारा सब कुछ ही जाना है। यह शरीर भोगायतन है, सकाम एवं उभय कर्म ही फलायतन की बृद्धि करते रहते हैं,सङ्कल्प एवं तदनुरूप चेष्टा से ही भोगायतन की बृद्धि होती है, निश्चेष्ट होने पर भोगायतन बृद्धि की आशा नहीं रहती है।।२०।।

यस्य नारायणो देवो भगवान् हृद्गतः सदा।

भक्त्या केवलयात्मानं धुनोति ध्वान्तमर्कवत्।।२१।।

भगवान् श्रीनारायण केवल भक्ति के द्वारा ही आप हृदय मे प्रविष्ट होकर दिवाकर की भांति हृद्गत सकल अन्धकार को विनष्ट कर रहे है इससे आपके लिए कुछ भी ज्ञातव्य अवशेष नहीं है।।२१।।

तथापि ब्रूमहे प्रश्नांस्तव राजन् यथाश्रुतम्।

सम्भावनीयो हि भवानात्मनः शुद्धिमिच्छताम्।।२२।।

तथापि मैंने जैसा सुना है वैसा ही उत्तर दे रहा हूँ। कारण कि जो व्यक्ति अपनी शुद्धि की कामना करता है उसके

लिए आपके साथ सम्भाषण करना परम आवश्यक है।।२२।।

तृष्णया भववाहिन्या योग्यैः कामैरपूरया।
कर्माणि कार्यमाणोऽहं नानायोनिषु योजितः।।२३।।
यदृच्छया लोकमिमं प्रापितः कर्मभिर्भ्रमन्।
स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं तिरश्चां पुनरस्य च ।।२४।।

हे राजन्! संसार प्रवाहकारिणी तृष्णा को निरन्तर यथोचित विषय दान करके भी परिपूर्ण नहीं किया जा सकता है, उस तृष्णा से कर्म समूह मे प्रवृत्त होकर मै विभिन्न योनियो मे प्रविष्ट हुआ था, पश्चात् तृष्णा से भ्रमण करते-करते उक्त तृष्णा मुझको मनुष्य देह मे ले आयी है। हे राजन। यह देह धर्म द्वारा स्वर्ग का साधन, अधर्म द्वारा कुत्ता, शूकरादि शरीर का प्रापक तथा मिश्रित धर्माधर्म से मनुष्य शरीर प्राप्त करने का द्वार एवं सर्व निवृत्ति द्वारा मोक्ष का द्वार होता है।।२३-२४।।

अत्रापि दम्पतीनां च सुखायान्यापनुत्तये।
कर्माणि कुर्वतां दृष्ट्वा निवृत्तोऽस्मि विपर्ययम्।।२५।।

मनुष्य जीवन प्राप्त होकर सुखप्राप्ति एवं दुःख निवृत्ति निमित्त कर्माचरण रत स्त्री एवं पुरूषों मे विपर्यय को देखकर मैने निवृत्ति मार्ग को अपनाया।।२५।।

सुखमस्यात्मनो रूपं सर्वेहोपरतिस्तनुः।
मनः संस्पर्शजान् दृष्ट्वा भोगान् स्वप्स्यामि संविशन्।।२६।।

कर्म से ही कदाचित् सुख प्राप्त करने की सम्भावना

है,निरुद्यम होने से सुख प्राप्ति क्या हो सकती है? उत्तर में कहते हैं-जीव का स्वरूप ही सुख स्वरूप है जब समस्त विषय तृष्णा प्रबल रहती है तब स्वरूप का अनुभव नहीं होता है, कारण है-तृष्णा,इससे कर्म होता है, तृष्णा की उपरति के बिना सुख नहीं हो सकता है, प्राकृत भोग-मनोरथ योग समूह को क्षणभङ्गुर देखकर उसमें अरुचि को प्रकट करने के लिए ही मैं सुख से सोता रहता हूं। तृष्णा को छोड़ने पर मैं कुसुम शय्या में सो गया हूं। मानसिक तृप्ति ही सुख का कारण है और उससे ही शरीर में स्थूलता हो गयी है, तब समय-समय पर भोजन क्यों करते हैं? उत्तर में कहते हैं-प्रारब्ध भोग को प्राप्त करने के लिए ही बीच-बीच में भोजन करता हूं।।२६।।

इत्येतदात्मनः स्वार्थं सन्तं विस्मृत्य वै पुमान्।
विचित्रामसति द्वैते घोरामाप्नोति संसृतिम्।।२७।।

ऐसा होने पर कोई भी व्यक्ति संसारी नहीं होगा,सब व्यक्ति स्वाभाविक सुखी होंगे? कहते हैं-यद्यपि आत्मा सुखस्वरूप है, तथापि पुरुषार्थ विस्मृति होने पर द्वैत न होने पर भी पुरुषगण घोरतर संसार को प्राप्त करते हैं, आत्मा सर्वत्र वर्तमान होने पर भी उसकी उपलब्धि नहीं होती है।।२७।।

जलं तदुद्भवैश्छन्नं हित्वाज्ञो जलकाम्यया।
मृगतृष्णामुपाधावेद् यथान्यत्रार्थदृक् स्वतः।।२८।।

जिस प्रकार अज्ञ व्यक्ति जलज तृण शैवालादि द्वारा आवृत

जल को परित्याग कर जल के लिए मरीचिका के प्रति धावित होता है तद्रूप आत्म स्वरूप से अन्य पदार्थ मे पुरुषार्थ को अनुभव करके पुरुष संसार को प्राप्त करता है।।२८।।

देहादिभिर्दैवतन्त्रैरात्मनः सुखमीहतः।

दुःखात्ययं चानीशस्य क्रिया मोघाः कृताः कृताः।।२९।।

देहादि दैवाधीन है,इसको जानकर भी जो जन सुख प्राप्ति दुःख निवृत्ति के लिए कामना करता है,उस दैव शून्य व्यक्ति का प्रारब्ध सकल क्रिया ही विफल होती है।।२९।।

आध्यात्मिकादिभिर्दुःखैरविमुक्तस्य कर्हिचित्।

मर्त्यस्य कृच्छ्रोपनतैरर्थैः कामैः क्रियेत किम्।।३०।।

क्रिया सफल होने पर भी उस फल से व्यक्ति का कोई उपकार नहीं होता है कारण वह व्यक्ति कभी भी आध्यात्मिकादि दुःख से कभी भी छुटकारा नही पाता है सुतरां जो व्यक्ति सत्वर जब मरेगा ही तब उसके लिए दुःख से उपार्जित अर्थ तथा काम से क्या प्रयोजन है?।।३०।।

पश्यामि धनिनां क्लेशं लुब्धानामजितात्मनाम्।

भयादलब्धनिद्राणां सर्वतोऽभिविशङ्किनाम्।।३१।।

अर्थ से दुःख निवृत्ति नहीं होती है,दुःख अधिक रूप से बढ़ता रहता है। बिना क्लेश से जो अर्थ मिलता है उससे भी दुःख होता है कारण अजितात्मा लुब्ध धनियो का उक्त विषय में क्लेश स्पष्टतः देखने में आता है,धनिक वर्ग भय से सो नही सकते है उन

सबको नींद नहीं होती, सर्वदा धनी व्यक्ति समूह शङ्काकुल रहते है।।३१।।

राजतश्चौरत: शत्रो: स्वजनात् पशुपक्षित:।

अर्थिभ्य: कालत: स्वस्मान्नित्यं प्राणार्थवद्भयम्।।३२।।

फलत: प्राणवान् एवं अर्थवान् व्यक्ति का भय नित्य है। राजा से, चोर से, शत्रु से, स्वजन से, दुष्ट से, पशु-पक्षियों से, मांगने वालों से एवं अपने से सर्वदा ही भय होता है, अर्थ विनाशी है।।३२।।

शोकमोहभयक्रोधरागक्लैव्यश्रमादय:।

यन्मूला: स्युर्नृणां जह्यात् स्पृहां प्राणार्थयोर्बुध:।।३३।।

अतएव जो अर्थ एवं प्राण शोक, मोह, भय, क्रोध, तृष्णा, क्लीवता, युद्धश्रम प्रभृति का मूल है, उस अर्थ एवं प्राण के लिए पण्डित व्यक्ति अतिशय तृष्णा को परित्याग करे।।३३।।

मधुकारमहासर्पौ लोकेऽस्मिन्नो गुरूत्तमौ।

वैराग्यं परितोषं च प्राप्ता यच्छिक्षया वयम्।।३४।।

इस जगत् में मधुमक्षिका एवं अजगर सर्प हमारे लिए उत्तम गुरू हैं, हमने उन सबकी वृत्ति की पर्यालोचना के द्वारा वैराग्य एवं परितोष को प्राप्त किया है।।३४।।

विराग: सर्वकामेभ्य: शिक्षितो मे मधुव्रतात्।

कृच्छ्राप्तं मधुवद् वित्तं हृत्वाप्यन्यो हरेत् पतिम्।।३५।।

मधुमक्षिका के निकट से मैंने कामना के समस्त विषयों में विराग की शिक्षा पायी है कारण अन्यान्य व्यक्तिगण वित्त पति को बध करके भी मधुकर की भाँति उसके कृच्छ्र प्राप्त वित्त को हरण करते हैं।।३५।।

अनीह परितुष्टात्मा यदृच्छोपनतादहम्।
नो चेच्छये वह्वहानि महाहिरिव सत्त्ववान्।।३६।।

अजगर से मैंने यह शिक्षा पाई है कि यदि मैं निश्चेष्ट एवं यदृच्छालाभ से सन्तुष्ट रहूँ,यदि कदाचित् कुछ लाभ नहीं होता है तब सर्प के समान धैर्यवान् होकर अनेक दिन तक सोकर विताऊँ।।३६।।

क्वचिदल्पं क्वचिद् भूरि भुञ्जेऽन्नं स्वाद्वस्वादु वा।
क्वचिद् भूरि गुणोपेतं गुणहीनमुत क्वचित्।।३७।।
श्रद्धयोपाहृतं क्वापि कदाचिन्मानवर्जितम्।
भुञ्जे भुक्त्वाथ कस्मिंश्चिद् दिवा नक्तं यदृच्छया।।३८।।

कभी अल्प भोजन करूँ,कभी भूरि भक्षण करूँ,कदाचित् सुस्वादु अन्न खाऊँ,कदाचित् विस्वाद वस्तु खाऊँ,कभी बहुगुण युक्त भोजन हो,कभी गुणहीन भोजन हो,कदाचित् कोई श्रद्धा से प्रदान करे,कभी तो अपमान करके ही कोई कुछ दे जाय,किसी दिन भोजन करके पुनर्वार भोजन करूँ,किसी दिन रात्रि काल में यदृच्छा कम से यत्किञ्चित् भोजन मिले।।३७-३८।।

क्षौमं दुकूलमजिनं चीरं वल्कलमेव वा।

वसेऽन्यदपि सम्प्राप्तं दिष्टभुक् तुष्टधीरहम्।।३९।।

कभी क्षौम वसन,कभी दुकूल,कभी मृगचर्म,कदाचित् कौपीन,कभी वल्कल,कभी अन्य जो कुछ उपस्थित होता है उसे पहन लेता हूँ। इस प्रकार तुष्टान्त:करण होकर सर्वदा प्रारब्ध भोग करता हूँ।।३९।।

क्वच्छये धरोपस्थे तृणपर्णाश्मभस्मसु।
क्वचित् प्रासादपर्यङ्के कशिपौ वा परेच्छया।।४०।।

कभी तो भूमि पर शयन करता हूँ,कभी तो तृण पर्ण प्रस्तर,अथवा भस्म के ऊपर सोता हूँ,कभी तो दूसरे की इच्छा से अट्टालिका के मध्य में पर्यङ्क के ऊपर उत्तम शय्या में शयन कर निद्रित होता हूँ।।४०।।

क्वचित् स्नातोऽनुलिप्ताङ्गः सुवासाः स्रग्व्यलंकृतः।
रथेभाश्वैश्चरे क्वापि दिग्वासा ग्रहवद् विभो।।४१।।

कभी स्नान के अनन्तर अनुलिप्ताङ्ग होकर मनोहर वसन परिधान पूर्वक माल्य से अलंकृत होकर रथ,हस्ती अथवा अश्व से भ्रमण करता हूँ,कभी तो दिगम्बर होकर ग्रह की भांति घूमता रहता हूँ।।४१।।

नाहं निन्दे न च स्तौमि स्वभावविषमं जनम्।
एतेषां श्रेय आशासे उतैकात्म्यं महात्मनि।।४२।।

हे राजन् ! जो जन स्वभावत: ही अस्वाभाविक विषम है उसकी निन्दा मैं नहीं करता हूँ,न तो स्तुति ही करता हूँ,सबके

लिए कल्याण की आकाङ्क्षा करता हूं एवं भक्ति योग अत्यन्त दुर्लभ होने के कारण परमात्मा से सायुज्य की कामना करता हूं।।४२।।

विकल्पं जुहुयाच्चित्तौ तां मनस्यर्थविभ्रमे।

मनो वैकारिके हुत्वा तन्मायायां जुहोत्यनु।।४३।।

राजन्! इस प्रकार अवस्थित होने का उपाय कहता हूं। आप श्रवण करें,भेदग्राहक मनोवृत्ति में विकल्प को हवन करना पश्चात् उस मनोवृत्ति को अहङ्कार में होम करना,अनन्तर अहङ्कार को महत्तत्व के द्वारा माया में होम करे।।४३।।

आत्मानुभूतौ तां मायां जुहुयात् सत्यदृङ्मुनिः।

ततो निरीहो विरमेत् स्वानुभूत्याऽऽत्मनि स्थितः।।४४।।

अवशेष में सत्यदर्शी एवं मननशील होकर माया को आत्मानुभव के द्वारा निरस्त करके निरीह होकर आत्मा में अवस्थित होना।।४४।।

स्वात्मवृत्तं मयेत्थं ते सुगुप्तमपि वर्णितम्।

व्यपेतं लोकशास्त्राभ्यां भवान् हि भगवत्परः।।४५।।

हे राजन्! आप भगवत्प्रिय हैं,उक्त विषयो से आपका कोई प्रयोजन नहीं है तथापि अतिशय स्वात्मवृत्तान्त आपके समीप मैंने वर्णन किया। लोकशास्त्र के बहिर्भूत दिखाई देने पर भी यह मन्द दृष्टि का कार्य है,तत्व दृष्टि का नहीं।।४५।।

श्रीनारद उवाच

धर्मं पारमहंस्यं वै मुनेः श्रुत्वासुरेश्वरः।

पूजयित्वा ततः प्रीत आमन्त्र्य प्रययौ गृहम्॥४६॥

श्रीनारदजी ने कहा-हे राजन् युधिष्ठिर! असुरेश्वर पह्लाद ने अजगर व्रती मुनि के निकट उक्त प्रकार पारमहंस्य धर्म को सुनकर उनकी पूजा की अनन्तर परम सन्तुष्ट होकर मुनि से अनुमति लेकर निज निवास की ओर आप चले गये॥४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां वैयासिक्यां सप्तमस्कन्धे युधिष्ठिर नारद सम्वादे यतिधर्मकथनं त्रयोदशोऽध्यायः

-**-

श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम्

-*-

गृहस्थ धर्मः

(श्रीमद्भागवतस्य सप्तमे चतुर्दशोऽध्यायः)

-*-

श्रीयुधिष्ठिर उवाच

गृहस्थ एतां पदवीं विधिना येन चाञ्जसा।

याति देवऋषे ब्रूहि मादृशो गृहमूढधीः॥१॥

नत्वा गदाधरं देवं गौरचन्द्रसमन्वितम्।

शिष्टानाञ्च गृहस्थानां धर्मं वक्ष्ये यथामति।।

ब्रह्मचारी,वानप्रस्थ एवं यति धर्म का वर्णन एकादश द्वादश त्रयोदश अध्यायों में यथावत् हुआ। उक्त तीन धर्मों में निवृत्त धर्मानुरागी जन ही अधिकारी हैं,प्रवृत्त धर्म में एकमात्र गृहस्थ ही अधिकारी है। यदि यति धर्म से ही मानव मुक्त होता है और किसी धर्म से नहीं तब जन्म मृत्यु प्रवाह स्वरूप गृहस्थ धर्म की आवश्यकता क्या है? प्रवृत्त धर्म से भी यदि निवृत्ति धर्म फल रूप मोक्ष सम्भव है तब उसका वर्णन आप करें मादृश व्यक्ति की मति गृहस्थ धर्म में अतिशय मूढ़ है। देवर्षि के प्रति महाराज युधिष्ठिर के इस प्रकार प्रश्न करने पर देवर्षि नारद चतुर्दश अध्याय में गृहस्थ का उत्कृष्ट धर्म एवं देश कालादि के भेद से विशेष धर्म का वर्णन किए हैं।।१।।

श्रीनारद उवाच

गृहेष्ववस्थितो राजन् क्रियाः कुर्वन् गृहोचिताः।
वासुदेवार्पणं साक्षादुपासीत महामुनीन्।।२।।
शृण्वन् भगवतोऽभीक्ष्णमवतारकथामृतम्।
श्रद्दधानो यथाकालमुपकालजनावृतः।।३।।

श्रीनारदजी ने कहा-राजन्! गृह में अवस्थित व्यक्ति वासुदेव प्रीति के लिए वासुदेव को समर्पण करके ही समस्त क्रिया-कलाप का अनुष्ठान करे एवं यथासमय महर्षिगण की भी उपासना करे और सर्वदा अपराह्न में अमृत स्वरूप श्रीभगवान् के अवतारों

की कथा को अवहित एवं श्रद्धान्वित होकर श्रवण करे एवं शान्त दान्त जनगण के सङ्ग में अवस्थान करे।।२-३।।

सत्सङ्गाच्छनकैः सङ्गमात्मजायात्मजादिषु।
विमुच्येन्मुच्यमानेषु स्वयं स्वप्नवदुत्थितः।।४।।

उक्त निष्कपट शान्त दान्त व्यक्ति के सङ्ग हेतु क्रमशः शरीर, जाया, आत्मज प्रभृति के प्रति स्नेह टूट जायेगा, उस समय स्वप्न से जगा हुआ व्यक्ति जिस स्वप्न दृष्ट पुत्रादि के सङ्ग को परित्याग करता है उस प्रकार वह व्यक्ति उक्त सङ्ग समूह को त्याग कर सकेगा।।४।।

यावदर्थमुपासीनो देहे गेहे च पण्डितः।
विरक्तो रक्तवत् तत्र नृलोके नरतां न्यसेत्।।५।।

निरन्तर छल कपट मात्सर्यादि परायण व्यक्तियों के साथ रहकर गृहस्थोचित क्रियायों का समाधान कैसे सम्भव होगा? उत्तर में कहते हैं-निर्वाह के लिए जितना विषय आवश्यक हो उतना ही ग्रहण करे। परिमित विषयों का भोग होने से अन्तर देह एवं गृह के प्रति उदासीन होगा एवं बाहर अनुरक्त की भांति विषय को भोगकर लोकों के मध्य में पुरुषकार को प्रकट करे।।५।।

ज्ञातयः पितरौ पुत्रा भ्रातरः सुहृदोऽपरे।
यत् वदन्ति यदिच्छन्ति चानुमोदेत निर्ममः।।६।।

कहीं पर अपना आग्रह नहीं रखे। ज्ञातिगण, पिता-माता, भ्राता, पुत्र, सुहृद् एवं अन्यान्य व्यक्तिगण

जिसको चाहते है उसमें आनन्दित होवे किन्तु किसी के प्रति ममता न रखे।।६।।

दिव्यं भौमं चान्तरिक्षं वित्तमच्युतनिर्मितम्।

तत् सर्वमुपभुञ्जान एतत् कुर्यात् स्वतो बुधः।।७।।

सब कुछ अनुमोदन करते रहने पर वित्तक्षय,जीवन नाश एवं कर्म ध्वंस भी होगा। इसके समाधान हेतु कहते हैं वृष्टि से उत्पन्न धान्यादि,भूमि विवर से प्राप्त धनादि अकस्मात् लब्धधन एवं दैव लब्धधन द्वारा कर्म का निर्वाह करे एवं उक्त वस्तुओ का रक्षणावेक्षण भी करे,इस प्रकार नित्य नैमित्तिक कर्म भी करे।।७।।

यावत् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्त्वं हि देहिनाम्।

अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति।।८।।

दैवात् अधिक लाभ होने पर अभिमान न करे एवं अधिक भोग भी न करे,जिसमें अपना निर्वाह होता है उसमें ही अपना स्वत्त्व रखना आवश्यक है। जो जन इससे अधिक धन की अपेक्षा करता है एवं अभिमान करता है वह ही चोर है और वह दण्डित होने के योग्य है।।८।।

मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिकाः ।

आत्मनः पुत्रवत् पश्येत् तैरेषामन्तरं कियत्।।९।।

अतएव मृग,उष्ट्र,गर्दभ,मर्कट,मूषिक,सर्प,पक्षी,मक्षिका प्रभृति प्राणी घर में अथवा खेत में घुसकर कुछ भोजन करें तो उन्हें कुछ न कहें अपने पुत्र के समान ही देखे अर्थात् पुत्र को जिस

प्रकार भोजन देते हैं वैसा ही उन सबको भोजन प्रदान करे कारण पुत्र में और उन सबमें अन्तर ही कितना है?।।९।।

त्रिवर्गं नातिकृच्छ्रेण भजेत गृहमेध्यपि।
यथादेशं यथाकालं यावद्दैवोपपादितम्।।१०।।

गृहस्थ होकर भी अत्यन्त आवेश से धर्म,अर्थ,काम रूप त्रिवर्ग को अर्जन कर सेवन न करे किन्तु निर्वाह योग्य वस्तु का ही सेवन करे। स्वल्प आयास से जो कुछ उपलब्ध हो उससे ही निर्वाह कर अधिक सम्भार की अपेक्षा न करे,इस प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत धारण,गुरु सेवन प्रभृति में भी आचरण करें।।१०।।

आश्वापान्तेऽवसायिभ्यः कामान् संविभजेत् यथा।
अप्येकामात्मनो दारां नृणां स्वत्वग्रहो यतः।।११।।

कुत्ता,पतित,चाण्डाल,अपराधी प्रभृति समस्त प्राणियों को भोगोचित वस्तु यथायथ रूप से विभाग कर प्रदान करे,पत्नी में ही मनुष्य का निज स्वत्व सर्वाधिक रहता है एवं शुश्रुषा के लिए अत्यावश्यक पत्नी है किन्तु निज शुश्रुषा की यदि हानि होती है और अतिथि का आग्रह भी होता है तो उस एकमात्र भार्या को भी अतिथि सेवा में नियुक्त करे।।११।।

जह्यात् यदर्थे स्वप्राणान् हन्याद् वा पितरं गुरुम्।
तस्यां स्वत्वं स्त्रियां जह्यात् यस्तेन ह्यजितो जितः।।१२।।

जिस पत्नी के लिए लोक प्राण भी देता है पिता एवं गुरु वर्ग की हत्या करने के लिए तैयार हो जाता है उस पत्नी में भी

यदि लोक स्वत्व परित्याग करता है तो ईश्वर अजित होकर भी उस त्याग से पराजित हो जाते हैं।।१२।।

कृमिविड्भस्मनिष्ठान्तं क्वेदं तुच्छं कलेवरम्।
क्व तदीयरतिर्भार्या क्वायमात्मा नभश्छदिः।।१३।।

यद्यपि भार्या के प्रति जो निजत्व बुद्धि है उसको परित्याग करना अत्यन्त कठिन है तथापि तत्व विचार द्वारा असाध्य साधन भी हो सकता है, शरीर अन्त में कृमि,विष्ठा,भस्म में परिणत होगा अतएव अति तुच्छ इस देह के द्वारा यदि उत्तम वस्तु लाभ होता है तो उसके लिए यत्न करना आवश्यक है। तत्व विचार यह है यह देह अति तुच्छ है और इस देह के साथ जिसकी रति है वह भार्या ही कहां? अतएव जो आत्मा परमेश्वर निज महिमा द्वारा नभोमण्डल को व्याप्त कर देते हैं वह आत्मा भी कहाँ? इस प्रकार तत्व विचार करने पर अभिमान विदूरित हो जाता है,यदि अभिमान को छोड़ने पर उक्त पदार्थ का लाभ होता है तव क्यों आसक्त होता है? इस प्रकार विचार से आसक्ति अभिमान नष्ट होगा।।१३।।

सिद्धैर्यज्ञावशिष्टार्थैः कल्पयेद् वृत्तिमात्मनः।
शेषे स्वत्वं त्यजन् प्राज्ञः पदवीं महतामियात्।।१४।।

हे राजन्! गृहस्थ व्यक्ति दैवलब्ध द्रव्य के द्वारा पञ्च यज्ञ का निर्वाह करे,पञ्च यज्ञ के पश्चात् जो अवशेष रहेगा,उससे अपनी जीविका निर्वाह करे। इस प्रकार जीवन धारण करके जो

पुरुष समस्त विषय में स्वत्व को परित्याग करता है वह प्राज्ञ है वह ही निवृत्ति मार्गस्थ महाजन की कृपा को प्राप्त करेगा।।१४।।

देवानृषीन् नृभूतानि पितृनात्मानमन्वहम्।
स्ववृत्यागतवित्तेन यजेत पुरुषं पृथक्।।१५।।
यर्ह्यात्मनोऽधिकाराद्याः सर्वाः स्युर्यज्ञसम्पदः।
वैतानिकेन विधिना अग्निहोत्रादिना यजेत्।।१६।।

उक्त पञ्च यज्ञ का विवरण कहते हैं-देव,ऋषि,मनुष्य,भूत,पितृगण तथा परमात्मा पञ्च यज्ञ के देवता हैं इन सबकी अर्चना निज वित्त के द्वारा यथाविधि करे,इस सबकी अर्चना से ही अन्तर्यामी की भी अर्चना होती है। जब आत्माधिकार प्रभृति समुदाय सम्पत्ति होगी तव वैतानिक विधि के द्वारा अग्नि होत्रादि यज्ञ करना भी कर्त्तव्य होगा।।१५-१६।।

न ह्यग्निमुखतोऽयं वै भगवान् सर्वयज्ञभुक्।
इज्येत हविषा राजन् यथा विप्रमुखे हुतैः।।१७।।

किन्तु यज्ञ के लिए अतिशय आडम्बर न करे कारण सर्वयज्ञ भोक्ता भगवान् हरि विप्र को भोजन कराने पर जिस प्रकार तृप्त होते हैं उस प्रकार तृप्त अग्नि में आहुति प्रदान करने पर नहीं होते हैं।।१७।।

तस्माद् ब्राह्मणदेवेषु मर्त्यादिषु यथार्हतः।
तैस्तैः कामैर्यजेस्वैनं क्षेत्रज्ञं ब्राह्मणाननु।।१८।।

अतएव ब्राह्मण,देव,मानव प्रभृति में यथायोग्य क्षेत्रज्ञ

आत्मा की अर्चना करे। ब्राह्मणो की अर्चना पहले करके ही बाद में अन्यान्य जीव की अर्चना करे।।१८।।

कुर्यादापरपक्षीयं मासि प्रौष्ठपदे द्विजः।
श्राद्धं पित्रोर्यथावित्तं तद्वन्धूनां च वित्तवान्।।१९।।
अयने विषुवे कुर्याद् व्यतीपाते दिनक्षये।
चन्द्रादित्योपरागे च द्वादशीश्रवणेषु च।।२०।।

वित्तवान् विप्र अर्थ सामर्थ्य के अनुसार भाद्रमास में पिता-माता बन्धु वर्ग के श्राद्ध अपर पक्ष मे करे इस प्रकार अयन द्वय में,विषुव द्वय में,व्यतीपात में,दिनक्षय में,त्र्यहस्पर्श में,सूर्यग्रहण एवं चन्द्र ग्रहण में,द्वादशी तिथि में एवं श्रवणा नक्षत्र में भी श्राद्ध करे।।१९-

तृतीयायां शुक्लपक्षे नवम्यामथ कार्त्तिके।
चतसृष्वप्यष्टकासु हेमन्ते शिशिरे तथा।।२१।।

अक्षय तृतीया में,कार्त्तिकी शुक्ला नवमी में,हेमन्त एवं अग्रहायनादि चार मास में चार अष्टका का अनुष्ठान करे।।२१।।

माघे च सितसप्तम्यां मघाराकासमागमे।
राकया चानुमत्या वा मासर्क्षाणि युतान्यपि।।२२।।

सम्पूर्ण चन्द्र पौर्णमासी का नाम राका है,एक कला कम होने पर अनुमति कही जाती है,माघ मास की शुक्ला सप्तमी एवं मघा नक्षत्र युक्त पूर्णिमा,जिस नक्षत्र युक्त पूर्णिमा से जिस मास का नाम होता है,उस-उस नक्षत्र,सम्पूर्ण चन्द्र विशिष्ट पूर्णिमा एवं

कला शून्य चन्द्र सानुमति को ही श्राद्ध को प्रशस्त माना गया है।।२२।।

द्वादश्यामनुराधा स्याच्छ्रवणस्त्रिस उत्तरा:।
तिसृष्वेकादशी वाऽऽसु जन्मर्क्षश्रोणयोगयुक्।।२३।।

श्रवणा,अनुराधा,उत्तरा फाल्गुनी,उत्तराषाढ़ा,उत्तरा भाद्रपद युक्त द्वादशी तिथि अथवा उत्तराषाढ़ा,उत्तराभाद्रपद नक्षत्र युक्त एकादशी तिथि श्राद्ध के लिए प्रशस्त है किन्तु उपवास के दिन में श्राद्ध न करे। निषेध वचन इस प्रकार है-दाता,भोक्ता,प्रेरक तीनों व्यकि नरक चले जायेंगे यदि एकादशी में श्राद्ध हो तो,उपवास एकादशी में होने पर द्वादशी में श्राद्ध करे। यदि एकादशी में उपवास न हो तो उसी दिन करे एवं जन्म नक्षत्र के दिन में भी श्राद्ध करे।।२३।।

त एते श्रेयस: काला नृणा श्रेयोविवर्धना:।
कुर्यात् सर्वात्मनेतेषु श्रेयोऽमोघं तदायुष:।।२४।।
एषु स्नान जपो होमो व्रतं देवद्विजार्चनम्।
पितृदेवनृभूतेभ्यो यद् दत्तं तद्ध्यनश्वरम्।।२५।।

यह सब केवल श्राद्ध के लिए ही प्रशस्त नहीं किन्तु कर्ममात्र के लिए ही श्रेयस्कर है। अतएव उक्त समय में यज्ञ के साथ धर्म कर्म करने पर जीवन सार्थक होता है। उक्त समय में स्नान,यज्ञ,जप,व्रत एवं ब्राह्मण की पूजा तथा पितृदेव मनुष्य के लिए जो दान किया जाता है ये सब अविनश्वर होते हैं।।२५।।

संस्कारकाले जायाया अपत्यस्यात्मनस्तथा।
प्रेतसंस्था मृताहश्च कर्मण्यभ्युदये नृप।।२६।।
अथ देशान् प्रवक्ष्यामि धर्मादि श्रेय आवहान्।
स वै पुण्यतमो देशः सत्पात्रं यत्र लभ्यते।।२७।।

भार्य्या के पुंसवनादि संस्कार के समय,पुत्र कन्या के जातकर्मादि के समय,निज यज्ञ दीक्षा के समय,मृत शरीर दाह के समय,मृत्यु के दिन एवं अन्यान्य आभ्युदयिक कर्म के समय श्रेयोजनक,श्राद्धादि क्रिया अवश्य कर्त्तव्य है। अनन्तर जो देश धर्मादि श्रेयोजनक है उसको कहता हूँ सुनो।।२६-२७।।

विम्बं भगवतो यत्र सर्वमेतच्चराचरम्।
यत्र ह ब्राह्मणकुलं तपोविद्यादयान्वितम्।।२८।।
यत्र यत्र हरेरर्चा स देशः श्रेयसां पदम्।
यत्र गङ्गादयो नद्यः पुराणेषु च विश्रुताः।।२९।।

जिस देश मे दृश्यमान समस्त चराचर विश्व वर्तमान है उन भगवान् के विग्रह रूप सत्पात्र जिस देश में मिले वह देश अतिशय पुण्यतम है। जहाँ पर तपस्या,विद्या,दया से विभूषित ब्राह्मण कुल रहते हैं एवं जहाँ पर श्रीभगवान् की अर्चा विग्रह विराजमान है वे सब देश श्रेय का निकेतन हैं। जहाँ पर पुराण प्रसिद्ध गङ्गादि सरित् प्रवाहित हैं।।२८-२९।।

सरांसि पुष्करादीनि क्षेत्राण्यार्हाश्रितान्युत।
कुरुक्षेत्रं गयशिरः प्रयागः पुलहाश्रमः।।३०।।

नैमिषं फाल्गुनं सेतुः प्रभासोऽथ कुशस्थली ।
वाराणसी मधुपुरी पम्पा विन्दुसरस्तथा।।३१।।
नारायणाश्रमो नन्दा सीतारामाश्रमादयः।
सर्वे कुलाचला राजन् महेन्द्रमलयादयः।।३२।।

पुष्करादि सरोवर एवं जहाँ पर उत्तम धार्मिक जन रहते हैं वह सब देश पुण्यतम हैं तथा कुरुक्षेत्र, गया, प्र[illegible], पुलह मुनि का आश्रम, नैमिषारण्य, फल्गु नदी, सेतुबन्ध, प्रभासतीर्थ, कुशस्थली द्वारका पवित्र स्थल हैं। वाराणसी, मधुपुरी, पम्पा सरोवर, विन्दु सरोवर, नारायणाश्रम-बदरिकाश्रम, नन्दानदी- गङ्गा एवं सीताराम का आश्रम प्रभृति स्थान सकल अति पवित्र हैं तथा महेन्द्र, मलय प्रभृति समस्त कुलाचल पर्वत पुण्यतम स्थान हैं।।३०-३१-३२।।

एते पुण्यतमा देशा हरेरर्चाश्रिताश्च ये।
एतान् देशान् निषेवेत श्रेयस्कामो ह्यभीक्ष्णशः।।
धर्मो ह्यत्रेहितः पुंसां सहस्राधिफलोदयः।।३३।।

जहाँ पर श्रीहरि के श्रीअर्चा विग्रह प्रतिष्ठित हैं वे सब स्थान भी अतिशय पवित्र हैं। जो व्यक्ति सर्वथा श्रेयः प्रार्थी है वह सतत उक्त स्थानों की सेवा करे कारण उक्त स्थानों में कर्म करने से सहस्र गुण अधिक फल लाभ होता है।।३३।।

पात्रं त्वत्र निरुक्तं वै कविभिः पात्रवित्तमैः।
हरिरेवैक उर्वीश यन्मयं वै चराचरम्।।३४।।

धर्म के लिए दान करना परम आवश्यक है, दान से वस्तु

के प्रति सङ्कीर्णता दूर हो जाती है एवं दूसरे के प्रति प्रीति होती है, किन्तु सत्पात्र को दान देना आवश्यक है, असत् पात्र को वस्तु प्रदान करने से फल भी असत् होता है। सत्पात्र निर्णय में अर्चा विग्रह रूप में श्रीहरि विराजित हैं, उन साक्षात् श्रीहरि ही ब्राह्मण, वैष्णव, साधु प्रभृति से सर्वोत्तम सत्पात्र हैं कारण चराचर समस्त विश्व ही श्रीहरि मय है।।३४।।

देवर्ष्यर्हत्सु वै सत्सु तत्र ब्रह्मात्मजादिषु।

राजन् यदग्रपूजायां मतः पात्रतयाच्युतः।।३५।।

श्रीहरि ही सर्वोत्तम पात्र हैं इसका निर्णय श्री युधिष्ठिर महाराज के राजसूय यज्ञ में निर्णीत हुआ था। उक्त यज्ञ में देवगण, ऋषिगण, तपो योगादि सिद्ध महर्षि, ब्रह्मनन्दन सनकादि उपस्थित थे किन्तु अग्रपूजा के अवसर में श्रीअच्युत की ही अग्रपूजा हुई अतएव भगवान् श्रीकृष्ण ही सत्पात्र हैं।।३५।।

जीवराशिभिराकीर्ण आण्डकोशाङ्घ्रिपो महान्।

तन्मूलत्वादच्युतेज्या सर्वजीवात्मतर्पणम्।।३६।।

यज्ञ में सत्पात्र रूप से आप क्यो निर्णीत होते हैं? उसका कारण है, जीव समूह द्वारा व्याप्त ब्रह्माण्ड कोषरूप महान् जो महीरुह है उसका भी मूल श्रीभगवान् हैं अतएव उनकी अर्चना से ही सबकी परम तृप्ति होती है।।३६।।

पुराण्यनेन सृष्टानि नृतिर्यगृषिदेवताः।

शेते जीवेन रूपेण पुरेषु पुरुषो ह्यसौ।।३७।।

श्रीभगवान् का एक नाम पुरुष है। भगवान् मनुष्य,पशु,पक्षी,ऋषि,देवता रूप पुर शरीर को सृजन कर उन शरीरो में अन्तर्यामी रूप मे एवं प्रत्यगंश रूप में अवस्थान करते हैं इस हेतु उनका नाम पुरुष हुआ है।।३७।।

तेष्वेव भगवान् राजंस्तारतम्येन वर्तते ।
तस्मात् पात्रं हि पुरुषो यावानात्मा यथेयते।।३८।।
दृष्ट्वा तेषां मिथो नृणामवज्ञानात्मतां नृप।
त्रेतादिषु हरेरर्चा क्रियायै कविभिः कृता।।३९।।

श्रीभगवान् समस्त शरीर में प्रविष्ट होने पर भी जिस शरीर में ज्ञान का आधिक्य है एवं ईश्वरानुशासन को जानकर पालन करने की सामर्थ्य है वह श्रेष्ठ सम्मान का पात्र है। तन्मध्य में जो मानव तपस्या प्रभृति के द्वारा श्रीहरि को अधिक रूप से अवगत होते हैं वे सब अधिक सम्मान पात्र हैं उनको ही दान करना आवश्यक है। हे राजन्! उसके बाद मनुष्यगण परस्पर स्पर्द्धा,असूया,मत्सरादि दोष युक्त होकर दलबद्धता के द्वारा मनुष्य को अभिभूत करके दूसरे को दबाकर सम्मान लेने लग गये इससे सम्मान योग्य गुण न होने पर भी मनुष्य को प्रजा बना कर सम्मान,दान प्राप्त करने की प्रथा चल पड़ी,सत्सम्मानी गुणी असम्मान के पात्र बन गये,यह देखकर कालक्रम से उपासक में दोष आना भी स्वाभाविक है अतः वैदिक रीति से ही ऋषिगण ने श्रीहरि को ही सम्मान पात्र प्रतिमा रूप में प्रकट किया एवं पूजादि

प्रचलन के लिए श्रीमूर्त्ति पूजा को प्रकट किया। इससे मनुष्यों में संघर्ष कम हो गया, मानव भी असत् मनुष्यों से उद्धार प्राप्त किए अतएव श्रीअर्चा विग्रह ही एकमात्र सत्पात्र सम्मान पात्र हैं, अल्प बुद्धि वाले मनुष्य प्रतिमा में अपूज्यत्व बुद्धि रखकर नरकगामी होते हैं। श्रीनृसिंह पुराणादि में तो श्रीब्रह्मा अम्बरीष प्रभृतियों के चरित्र में श्रीहरि प्रतिमा का पूजनानुष्ठान दिखाया गया है।।३८-३९।।

ततोऽर्चायां हरिं केचित् संश्रद्धाय सपर्यया।
उपासत उपास्तापि नार्थदा पुरुषद्विषाम्।।४०।।

उन श्रीहरि के विग्रह में उस समय से ही कुछ व्यक्ति अतिशय श्रद्धा से पूजा अर्चा प्रभृति करते आ रहे हैं किन्तु जो लोक गुणी विद्वान् व्यक्ति की अवज्ञा करके केवल श्रीहरि प्रतिमा की पूजा श्रद्धा से करता रहता है श्रीहरि उसकी पूजा ग्रहण नहीं करते और पूजादि कर्म फलप्रद नहीं होता है, उत्तम पुरुषों के प्रति द्वेष को छोड़कर श्रीहरि विग्रह की पूजा करने से ही अभीष्ट फल होता है।।४०।।

पुरुषेष्वपि राजेन्द्र सुपात्रं ब्राह्मणं विदुः।
तपसा विद्यया तुष्ट्या धत्ते वेदं हरेस्तनुम्।।४१।।

हे राजेन्द्र' गुणी आचरण सम्पन्न विद्वान् गण पूज्य है उनके मध्य में जो ब्राह्मण तपस्या, विद्या एवं सन्तोष द्वारा श्रीभगवान् श्रीहरि की अर्चना करते हैं वह अत्युत्तम पात्र है। जिन्होंने शास्त्राध्ययन आचरण द्वारा पाप को नष्ट किया है वह ब्राह्मण

है, अतिशय पूज्य है।।४१।।

नन्वस्य ब्राह्मणा राजन् कृष्णस्य जगदात्मनः।

पुनन्तः पादरजसा त्रिलोकी दैवतं महत्।।४२।।

राजन्' जगदात्मा भगवान् ब्राह्मणों की चरण धूलि से जगत् को पवित्र करते हैं इससे ब्राह्मणगण परम पात्र है इसमें कोई सन्देह नहीं है। ब्रह्मण्यदेव श्रीहरि की राजसूय यज्ञ में ब्राह्मणों ने अग्रपूजा की अतः श्रेष्ठ पूज्य श्रीहरि ही हैं।।४२।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां
वैयासिक्यां सप्तमस्कन्धे सदाचार
निर्णये चतुर्दशोऽध्यायः।।

-**-

श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम्

-*-

सर्वधर्मसारसंग्रहः
सप्तमस्कन्धस्य पञ्चदशोऽध्यायः

-*-

श्रीनारद उवाच

कर्मनिष्ठा द्विजाः केचित् तपोनिष्ठा नृपापरे।

स्वाध्यायेऽन्ये प्रवचने ये केचिज्ज्ञानयोगयोः।।१।।

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास नामक चार आश्रम

शास्त्र विहित हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम विद्याध्ययन के लिए होता है इसमें ही मानव जीवन की नींव पड़ती है,अध्ययन द्वारा परिपूर्ण ज्ञानलाभ तो होता है साथ ही प्राणीमात्र के प्रति ममत्व प्राणीमात्र के उल्लास के लिए अपनी कायिक,वाचिक,मानसिकी क्रियायों को परिचालित करना,निष्कपट रूप से सेवारत होना,संयम उत्साह सम्मान दान कर्त्तव्यनिष्ठा प्रभृति का ठोस अभ्यास भी इस आश्रम में ही होता है।

ग्रहस्थ आश्रम-समस्त आश्रमों का मूल है,इससे ही समस्त आश्रमों का निर्माण रक्षण आदि होता रहता है,वृक्ष की मूल जड़ जिस प्रकार वृक्ष के मधुर अवयव निकर के प्रति सुख का कारण है वैसा ही इसके अनुसार ही समस्त मानव सुखी एवं समृद्ध होते रहते हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम की समस्त अभिज्ञता का प्रयोग क्षेत्र ही गृहस्थ आश्रम है। इसका महत्त्व अपरिहार्य सर्वाधिक है।

वानप्रस्थ आश्रम-परहित व्रती होने के लिए संयम एवं आत्मनिष्ठ होना परम आवश्यक है उसका प्रथम सोपान रूप यह आश्रम है। सन्यास आश्रम को शरीर में मस्तक के समान कहा गया है,प्राणीमात्र के हित में रत होने के लिए यह आश्रम है,निष्कपट भाव से प्राणीमात्र को भय से उद्धार करने का अभ्यास इस आश्रम में विशेष रूप से होता है। इसके लिए जन्म,कर्म,वर्ण,आश्रम,जाति प्रभृति के ज्ञान के द्वारा मनुष्य बुद्धि में जो अहङ्कार होता है और इससे मानव प्राणीमात्र के लिए

विभीषिका का कारण बन जाता है उस अहङ्कार का यथार्थ त्याग इसमें होने के कारण ही इसको सन्यास आश्रम कहा जाता है। ब्राह्मण,क्षत्रिय,वैश्य,शूद्र ये चार वर्ण एवं चार आश्रम ईश्वर सृष्ट होने के कारण ये सब नित्य हैं और इसका परित्याग किसी काल में मनुष्य समाज नहीं कर सकता है,जो कुछ परित्याग शब्द से कहा जाता है,वह परित्याग शब्द का होता है वस्तु का नहीं।

ब्राह्मण शब्द विद्वान् का वाचक है अर्थात् शास्त्र ज्ञान सम्पन्न ईश्वर समर्पित व्यक्ति,निष्पाप एवं मानव को निर्मल ज्ञान प्रदानकारी व्यक्ति है,यह शरीर में मस्तिष्क के समान ही मानव समाज के लिए होता है इसका परित्याग असम्भव है। क्षत्रिय शरीर दोनों हाथों के समान होता है,रक्षणावेक्षण विधि व्यवस्थादि समस्त कार्य के लिए एकमात्र निष्कपट व्यक्ति होता है इसका परित्याग भी मानव जीवन में सम्भव नहीं है। वैश्य कृषि,गोरक्षा,वाणिज्य प्रभृति के द्वारा मानव समाज को जीवित एवं सुखी सम्पन्न कारक होता है,यह मानव शरीर के ऊरुद्वय में स्थान प्राप्त होता है।

शुद्र-मानव जीवन एवं शरीर में चरण का स्थान भागी है। आनुकूल्य परिचर्या एवं सेवा वृत्ति को शुद्र शब्द से कहा जाता है। इस प्रकार मानव जीवन एवं समाज में उक्त चारो की आवश्यकता नित्य रूप से ही रहती है,इससे वियुक्त होना असम्भव है। इस प्रकार ज्ञानार्जन,ज्ञान का विकास,संयम एवं अहङ्कार

त्याग की आवश्यकता सर्वदा रहेगी,अतएव सर्व धर्म का सार निरूपण इस अध्याय में हुआ है। वर्णन के आरम्भ में नारदजी कहते हैं-हे राजन्'कुछ ब्राह्मण काम्य कर्मनिष्ठ,अन्य कतिपय ब्राह्मण तपोनिष्ठ,अपर कतिपय ब्राह्मण स्वाध्याय अध्ययन में रत,अन्य कुछ ब्राह्मण प्रवचन शास्त्रार्थ व्याख्यान में निपुण हैं,अपर कुछ ब्राह्मण ज्ञान एवं योगमार्ग में परिनिष्ठित होते हैं।

ब्राह्मण को श्रीहरि का अभिन्न स्वरूप कहा गया है कारण ब्रह्म शब्द का अर्थ वेदादि शास्त्र है जिन्होंने शास्त्र को हृदय में धारण किया एवं उस ज्ञान का आचरण निष्कपटता से करके जिन्होंने पापो को नष्ट किया अर्थात् ईश्वर के अनुशासन को हृदय में मानकर स्वेच्छाचारिता को वर्जन किया है उनको ब्राह्मण कहा जाता है। यह ब्राह्मण सब आश्रम के होते हैं,क्रमशः गृहस्थ,वानप्रस्थ,ब्रह्मचारी,सन्यासी रूप ब्राह्मणों का परिचय प्रदान उनके आचरण के द्वारा देते हैं। ब्राह्मण सर्वथा पूज्य होते हैं,त्याग,संयम,शिक्षा प्रदान के द्वारा ब्राह्मणगण जगद्वासियो के हित साधन करते हैं,विशेष कर मुमुक्षु के लिए उत्तम स्वरूप ज्ञान सम्पन्न ब्राह्मण जिस प्रकार पूज्य हैं उस प्रकार प्रेमभक्ति अभिलाषी के लिए प्रेमभक्त की पूजा ही प्रशस्त है इससे भगवद् चित्र रूपी प्रतिमा पूज्य है,इससे ईश्वरीय रूप की अभिव्यक्ति होती है अतएव अर्चा विग्रह की पूज्यता सर्वाधिक है। इस प्रकार विष्णु सर्वव्यापक होने पर भी श्री शालग्राम में नित्य अवस्थिति का निर्द्धारण होता

है। सर्वत्र अन्तर्यामी दृष्टि से पूज्यता है किन्तु श्रीशालग्राम में नित्यावस्थान रूप में पूज्यता है अतः श्रीअर्चा विग्रह की पूज्यता सर्वाधिक है।।१।।

ज्ञाननिष्ठाय देयानि कव्यान्यानन्त्यमिच्छता।
देवे च तदभावे स्यादितरेभ्यो यथार्हतः।।२।।
द्वौ देवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा।
भोजयेत् सुसमृद्धोऽपि श्राद्धे कुर्यान्न विस्तरम्।।३।।

वस्तु में आसक्ति हेतु बुद्धि मलिन होती है इससे दूसरे के प्रति मनष्योचित व्यवहार में बाधा होती है,स्वार्थपरायणता से चित्त को मुक्त करने लिए प्रथमतः पितृपुरुष के उद्देश्य में दान करे। इसमें जो व्यक्ति दान के अपरिमित फल की कामना करता है वह ज्ञाननिष्ठ आत्मज्ञान सम्पन्न विप्र को कव्य अर्थात् पिता प्रभृति के सम्मानार्थ दे द्रव्य को एवं देवता सन्तोषार्थ देय द्रव्य को दान करे। यदि उक्त प्रकार आत्मज्ञान सम्पन्न ब्राह्मण न मिले तो ज्ञान के तारतम्य की विवेचना करके अन्य व्यक्तिगण को हव्य कव्य प्रदान करे,गुणी आचरण सम्पन्न व्यक्ति को ही सम्मान प्रदान करना ईश्वरीय उपदेश है। पित्रादि के श्राद्ध में देव पक्ष में दो ब्राह्मण को भोजन प्रदान करे,पितृ पक्ष में तीन ब्राह्मणों को भोजन प्रदान करे,अथवा उभय स्थल में ही एक-एक ब्राह्मण भोजन विहित है। सम्मान कर्त्ता अतिशय सम्पन्न होने पर भी विस्तार से ब्राह्मण भोजन न करावे।

देवतोद्देशक देय वस्तु को हव्य कहा जाता है,पितृ उद्देश्य में देय वस्तु को कव्य कहा जाता है। दान कर्म में आचरण परायण ज्ञानी व्यक्ति ही विहित है आचरण हीन मूर्ख व्यक्ति दान ग्रहण मे अधिकारी नहीं है,जिसके सन्तोषार्थ दान किया जाता है एवं जो दान करता है दोनों के हित के लिए ही उक्त उपदेश ईश्वर का है। यहां पर आगे के ग्रन्थ में मोक्षार्थी गृहस्थ को अनेक सन्यासी को भोजन प्रदान विधान है,वह मोक्ष प्रकरण के लिए है। अतएव शुद्ध भक्तगण काम्य कर्म के अधिकारी नहीं होते हैं। काम्य कर्मानुष्ठान के लिए अधिकारी गृहस्थ भी काम्य कर्म परायण एवं मोक्ष ज्ञान परायण ही विहित है। प्रतिष्ठित व्यक्ति के आचरण को देखकर अप्रतिष्ठित व्यक्ति आचरण करता है अत: भरत,अम्बरीष प्रभृतियों से भी भक्ति मार्गको लोक निन्दा से बचाने के लिए निज प्रतिनिधि द्वारा उक्त कर्मानुष्ठान कराते रहते हैं। मोक्षार्थी के लिए मोक्ष ज्ञान सम्पन्न व्यक्ति जैसे पूज्य है,अन्य व्यक्ति की पूजा उसके अभाव से होती है वैसी ही प्रेम भक्ति के लिए ऐकान्तिक प्रेमभक्त ही मुख्य रूप से पूज्य है। सिद्ध एवं मुक्तों में नारायण परायण प्रशान्तात्मा सुदुर्लभ होते हैं अत: ज्ञानी से भी भक्त की श्रेष्ठता है। चतर्वेदी व्यक्ति भक्त नहीं होता है किन्तु चाण्डाल भी यथार्थ भगवद् भक्त होने पर भगवत्प्रिय होता है अतएव दान कर्म में उक्त प्रकार भक्त ही सत्पात्र है उनको देना एवं उनसे ग्रहण करना कर्त्तव्य है वह यथार्थ भगवद् भक्त भगवान् के समान ही पूज्य है।

मोक्ष ज्ञानी के प्रकरण में कथित है कि अर्चा विग्रह में श्रद्धालु व्यक्ति कनिष्ठ अधिकारी है,भक्ति प्रकरण में किन्तु वैसा कहना सर्वथा अनुचित है,भक्ति परिचर्या है और यह श्रीमूर्त्ति को अवलम्बन कर ही होती है,श्रीभगवद् विग्रह भी नित्य है अतएव श्रीभगवद् अर्चा विग्रह की पूजा उनके सम्मानार्थ द्रव्य प्रदान ही भक्ति का मुख्य अङ्ग है। एकादश स्कन्ध में कहा गया है कि श्रीविग्रह एवं सत्य भगवद् भक्तजन का दर्शन,स्पर्श,अर्चन,उनकी परिचर्या,स्तुति,प्रणाम,गुणकर्मों का कीर्तन,श्रीअर्चा विग्रह की स्थापना में विशेष श्रद्धा,स्वयं एवं सम्मिलित भाव से श्रीभगवद् विग्रह स्थापन के लिए प्रयत्नशील उद्यमी होना आवश्यक है। वस्त्र,उपवीत,आभरण,पत्र,माल्य,गन्ध,अनुलेपन आदि के द्वारा प्रेम के साथ मेरा भक्त मेरी परिचर्या करे,जब जिस प्रकार उचित हो वैसा ही करे। श्रीभगवद् प्रतिमा में तुच्छ बुद्धि रखने वाले व्यक्ति मोक्षार्थी,ज्ञानी व्यक्तिगण एवं स्वल्प बुद्धि सम्पन्न व्यक्तिगण होते हैं। श्रीनृसिंह पुराण में कथित है कि ब्रह्मा एवं अम्बरीष प्रभृतियों ने सर्वाधिक श्रद्धा से श्रीभगवद् विग्रह की सेवा पूजा की। विष्णु धर्म में कथित है-विष्णु भक्ति एवं श्रीविग्रह पूजा को लक्ष्य कर श्रीविष्णु ने कहा है-श्रीभगवान् मूर्त्ति रूप श्रीविग्रह परिचर्या में चित्त को आविष्ट करके अन्य अवलम्बन को छोड़ो। भक्तिपूर्वक भगवद् मूर्त्ति पूजित होने पर एवं ध्यान से सुमहान् उपकार साधित होता है,चलते,बैठते,सोते,भोजन करते उन श्रीविग्रह का

आगे-पीछे,ऊपर-नीचे दोनो पार्श्वों में चिन्तन करे एवं अपने को भी उनके समीप में चिन्तन करे। स्कन्द पुराण में वर्णित है-जहाँ पर श्रीशालग्राम विराजित होते हैं वहाँ तीन योजन परिमित स्थान तीर्थस्वरूप हो जाते हैं। पद्म पुराण में वर्णित है-श्रीशालग्राम के समीप में एक कोश मात्र चारों ओर का स्थान पवित्र है,अशुद्ध प्रदेश में भी श्रीशालग्राम समीप में प्राणत्याग करने पर मानव वैकुण्ठ भवन को प्राप्त कर लेता है।।२-३।।

देशकालोचितश्रद्धाद्रव्यपात्रार्हणानि च।
सम्यग् भवन्ति नैतानि विस्तरात् स्वजनार्पणात्।।४।।

हे राजन्' स्वजन बुद्धि से यदि जामाता को निमन्त्रण किया जाय तो उसमें निज विवेक से जामाई के पिता प्रभृति को निमन्त्रण करना आवश्यक है। इस प्रकार देश,काल,द्रव्य,पात्र तथा सामग्री आदियो में भगवद् आज्ञा को लङ्घन कर स्वेच्छा रूप आचरण द्वारा विस्तर ब्राह्मण को निमन्त्रण कर एवं तदनुरूप देश,काल,श्रद्धा,द्रव्य,पात्र एवं अर्चन की व्यवस्था करने पर वह अनुष्ठान उत्तम नहीं होगा कारण ईश्वरीय आदेश पालन कर चलना ही धर्म है एवं व्यक्तिगत अहङ्कार से चलना ही धर्म है अतएव समस्त अनुष्ठान ही अधर्म में परिणत होगा।।४।।

देशे काले च सम्प्राप्ते मुन्यन्नं हरिदैवतम्।
श्रद्धया विधिवत् पात्रे न्यस्तं कामधुगक्षयम्।।५।।

अधिक अनुष्ठान का फल भी अधिक होता है इस लौकिक

वाक्य से प्रेरित होकर भोजनोत्सव में अधिक रुचिशील होने पर मुग्ध जनता से अर्थ आहरण एवं सञ्चय,गृह द्वार बृद्धि,कलह,विषयासक्ति,आत्मनाश प्रभृति होते रहेंगे धर्मानुष्ठान नहीं होगा। अतः कहते हैं कि उपयुक्त देश,काल,पात्र प्राप्त होने पर मुनि अन्न द्वारा अर्थात् अरण्यज प्राप्त फल मुलादि अथवा न्याय पूर्वक अर्जित यत्किञ्चित् अन्न श्रीभगवान् हरि को निवेदन करके उस निवेदित वस्तु के द्वारा ही श्रद्धापूर्वक यथाविधि यदि सत्पात्र की अर्चना अर्थात् सत् को दान हो तो वह कर्म अक्षय एवं समस्त कामना फलदायक होता है। प्रथम न्यायार्जित अन्न द्वितीय श्रीहरि को अर्पण पश्चात् पितृ पुरुष को देना अनन्तर सत्पात्र को प्रदान। इसको छोड़कर वर्तमान रीति से भोजनोत्सव होने पर धर्म,व्यक्तित्व,समाज,राष्ट्र का पतन अनिवार्य होगा।।५।।

देवर्षिपितृभूतेभ्य आत्मने स्वजनाय च।
अन्नं संविभजन पश्येत् सर्वं तत् पुरुषात्मकम्।।६।।
न दद्यादामिषं श्राद्धे न चाद्याद् धर्मतत्त्ववित्।
मुन्यन्नैः स्यात् परा प्रीतिर्यथा न पशुहिंसया।।७।।

देवता,ऋषि,पितृगण,प्राणी समूह,आत्मा,आत्मीय परिजन सकल को यथायोग्य अन्न को श्रद्धापूर्वक विभाग करके देना आवश्यक है एवं सबको परम प्रिय ईश्वर के समान ममत्व से ही देखे। प्राणीमात्र के प्रति विद्वेष,स्वार्थ परायणता,स्वार्थ सिद्धि के लिए अभिसन्धि प्रभृति वर्जन के लिए ही यह अनुष्ठान होता है।

वर्तमान काल में इसका अनुष्ठान ठीक विपरीत बुद्धि से ही होता है। हे नृप' श्राद्ध में मत्स्य मांसादि आमिष जातीय द्रव्य का प्रयोग न करे एवं धर्मज्ञ एवं तत्त्वज्ञ व्यक्ति कदाचित् उसका भोजन न करे कारण ईश्वर,देवता,पितृ न्यायार्जित द्रव्य नीवारादि के द्वारा जिस प्रकार सन्तुष्ट होते हैं उस पशु हिंसा,अन्याय पूर्वक ग्रहीत द्रव्य के द्वारा सन्तुष्ट नहीं होते हैं।।६-७।।

नैतादृशः परो धर्मो नृणां सद्धर्ममिच्छताम्।
न्यासो दण्डस्य भूतेषु मनोवाक्कायजस्य यः।।८।।

सद्धर्माकाङ्क्षी व्यक्तियों के लिए प्राणीमात्र के प्रति मानसिक कायिक एवं वाचिक हिंसा का परित्याग को छोड़कर अपर कोई भी परम धर्म नहीं है। मानव के हृदय में दो भाव प्राणीमात्र के प्रति होते रहते हैं,यह तो रही असाधु व्यक्ति के हृदय की बात। जब वह व्यक्ति ईश्वरीय शिक्षा के द्वारा साधु कहलाता है अर्थात् शास्त्रीय शिक्षा को हृदय में स्थापन करता है एवं ईश्वर की कही हुई बात को मानकर चलता है वह सच्चा साधु होता है और जो मानसिक संस्कार आहार,निद्रा,भय,मैथुन को सुलझाने के लिए ही सब कुछ करता रहता है वह असाधु होता है उसके हृदय में दो भाव प्रीति एवं विद्वेष होते हैं,विद्वेष की क्रिया अनेक होती हैं उसका एक प्रकाश विद्वेष होता है वह प्राणघाती व्यवहार में उतर आने पर हिंसा करता है,इस प्रकार भाव साधु हृदय में नहीं होता है वह प्राणीमात्र में ममत्त्व

स्थापन करता है। शरीर में ममत्त्व होने पर भी विक्रिया उपस्थित होने पर चिकित्सा भी कराते हैं,इस प्रकार जिस मानव में अशिक्षा,कुशिक्षा,दलीय शिक्षा देखी जाती है और उससे प्राणी जगत् दुःखी बन जाते हैं तब उसकी अच्छी चिकित्सा हो और बुद्धि में सुधार हो इसकी कामना कर जगद्वासी को सुखी बनाते हैं। अतएव हिंसा त्याग करना प्रधान धर्म है।।८।।

एके कर्ममयान् यज्ञान् ज्ञानिनो यज्ञवित्तमाः।

आत्मसंयमनेऽनीहा जुह्वति ज्ञानदीपिते।।९।।

अतएव प्रधान-प्रधान यज्ञ कर्म निष्णात ज्ञानिगण देवता के उद्देश्य से धर्माचरण के हेतु भी प्राणी हिंसा न करना पड़े इसलिए बाहर से आडम्बर पूर्ण कर्म को परित्याग करते हैं। निष्पाप ज्ञानीगण मन निग्रह रूप अग्नि में आत्म स्फूर्ति में मन को स्थापन कर उसके अन्तराय रूप आडम्बर पूर्ण कर्म को छोड़ देते है। सर्वज्ञ सूक्ति में कथित है,प्रत्यक् स्फूर्ति,असत् स्फूर्ति तत्त्व निष्ठा का बाधक होने के कारण काम्य कर्म का आग्रह परित्याग करे अन्यथा विघ्न से अभिभूत होना पड़ेगा।।९।।

द्रव्ययज्ञैर्यक्ष्यमाणं दृष्ट्वा भूतानि बिभ्यति।

एष माकरुणो हन्यादतज्ज्ञो ह्यसुतृव् ध्रुवम्।।१०।।

हे राजन्' जो जन द्रव्य यज्ञ द्वारा- याग करता है उसे देखकर सब प्राणी डर जाते हैं सब प्राणी जान जाते हैं कि यह लोक धार्मिक नहीं है आत्मतत्त्वानभिज्ञ ही है। वे लोक केवल निज

प्राण की तृप्ति में रत हैं, स्वार्थ पर हैं, स्वार्थपरता के कारण उनके हृदय में करुणा नहीं होती है, धार्मिक होने के बहाने से हम सबको बध करेंगे इससें सन्देह का अवकाश नहीं हैं।।१०।।

तस्मात् देवोपपन्नेन मुन्यन्नेनापि धर्मवित्।
सन्तुष्टोऽहरहः कुर्यान्नित्यनैमित्तिकीः क्रियाः।।११।।

अतएव धार्मिक व्यक्ति के लिए यह सर्वथा उचित होगा कि वे सन्तुष्ट होकर अर्थात् धर्माचरण के बहाने जीवहिंसा न कर देवाधीन उपस्थित फल मूलादि के द्वारा ही निरन्तर नित्य नैमित्तिक धार्मिक कार्य-कलाप का अनुष्ठान करे।।११।।

विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमा छलः।
अधर्मशाखा पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत् त्यजेत्।।१२।।

हे नृप' धर्मज्ञ व्यक्ति-विधर्म, परधर्म, धर्माभास, उपधर्म एवं छलधर्म यह पांच अधर्म शाखा हैं। अधर्म को जिस प्रकार छोड़ा जाता है उस प्रकार ही निषिद्ध मानकर इनको परित्याग करे।।१२।।

धर्मवाधो विधर्मः स्यात् परधर्मोऽन्यचोदितः।
उपधर्मस्तु पाखण्डो दम्भो वा शब्दभिच्छलः।।१३।।
यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमात् पृथक्।
स्वाभावविहितो धर्मः कस्य नेष्टः प्रशान्तये।।१४।।

अतिशय प्रयोजनीय विषय होने के कारण पहले इसकी व्याख्या होना आवश्यक है। विधर्म उसको कहा जाता है जिसको

आपाततः धर्म मानकर पालन करने पर भी निज धर्म का विनाश हो जाता है। भक्त का भक्ति धर्म,ज्ञानी का ज्ञान,योगी का योग,कर्मी का कर्म स्वधर्म होता है,जिसका ही आचरण हो उससे यदि निज धर्म की हानि होती है तो उसको विधर्म जानना होगा और उसका कभी भी आचरण न करे। दूसरे के द्वारा कथित धर्म परधर्म कहा जाता है,जैसे भुक्ति मुक्ति का लोभी व्यक्ति ब्रज भक्ति गोपी गीत का उपदेश प्रदान करे तो उसको परित्याग करना आवश्यक है कारण यह धोखा है। स्वार्थ साधक व्यक्ति व्यापारिक रीति से मनुष्य को प्रजा बनाना चाहता है अतः अधर्म की भांति उसको परित्याग करे। जो व्यक्ति स्वयं ईश्वरीय अनुशासन में विश्वास नहीं रखता है अथच साधु धार्मिक ख्याति के बिना जीवन यात्रा का निर्वाह असम्भव है अतः दिखावटी के द्वारा मानव को प्रजा बनाने के लिए जटा-भस्मादि धारण करके कपटमय धार्मिकत्व ख्यापन करने में सन्नद्ध होता है इसको उपधर्म कहा जाता है,धार्मिक जन इसको अधर्म की भांति त्याग करे। उपमा,धर्म की उपमा वास्तविक धर्म नहीं है किन्तु धर्म कहा जाता है। जिस प्रकार मुख को चन्द्र कहा जाता है किन्तु मुख चन्द्र नहीं है उसको आचरण,कथन,सिद्धान्त आदि से जानकर निर्णय करे एवं अधर्म को जिस प्रकार परित्याग किया जाता है वैसा ही उसको त्याग करे। जैसे ईश्वरीय सृष्टि में जीव के द्वारा ही जीव को जीवित रहने का प्रबन्ध है उस प्रकार मानव मानवो

को दोहन कर ही जीवित रहता है। इसके लिए मानव साम,दान,दण्ड,भेद से कार्य सम्पन्न तो करता ही है स्वार्थ सिद्धि के लिए मानव को अनुयायी बनाना परम आवश्यक होने के कारण शब्द को तोड़-मोड़ कर व्याख्या भी कर देता है,मुग्ध मानव इससे प्रभावित होकर अनुयायी बन जाता है और मानव उसे दुहकर अपने को पुष्ट कर लेता है इस प्रकार धर्म को शब्दभिच्छल कहा जाता है। जिस प्रकार "दशावरान् भोजयेत्" इसका यथार्थ अर्थ है-बहुब्रीहि समास से दश से कम व्यक्ति का भोजन न करावे इस प्रकार यथार्थ अर्थ को परित्याग करके तत्पुरुष समास के द्वारा उसकी व्याख्या करके नौ को भोजन कराने की व्याख्या एवं "गोदान करे" इस वाक्य से मृत गोदान की व्यवस्था प्रदान भी छल है उसको अधर्म की भाँति की त्याग करे। जनहित के लिए ईश्वरीय नियम वाक्य को धर्म कहा जाता है,यह सब जिससे लिपिबद्ध है उसका नाम शास्त्र,अनुशासन,उपदेश कहा जाता है उसको यथार्थ रूप से जानकर आचरण करने से प्राणीमात्र का कल्याण होता है उसको न पढ़कर यथार्थ रूप से न जानकर अपनी इच्छा से मानव समाज से कुछ ग्रहण कर चलने पर उसको कल्पित धर्माभास कहा जाता है। चाहे वह देव पूजादि क्यो नहीं करे,अतः वह ईश्वरीय आदेश पालन रूप धर्म से पृथक् होकर मनोधर्म कहलाता है और यह आश्रम धर्म न होने के कारण सर्वथा परित्याज्य है। निज धर्मानुष्ठान के अनन्तर धर्म बृद्धि के

लिए भी पर धर्म का अनुष्ठान न करे। मानव जिस घर में जन्म लेता है उसका परिचायक शब्द भी होता है उस अर्थ स्वरूप कर्त्तव्य को धर्म कहा जाता है कारण शब्द सृष्टा ने शब्द के साथ अर्थ को नित्य रूप से जोड़कर ही शब्द को प्रकाशित किया है, जैसे ब्राह्मण शब्द शास्त्र अध्ययन अध्यापन करना ईश्वर में आत्म समर्पण करके जन शिक्षा के लिए रत रहना आदि अर्थ जन्म के साथ ही ब्राह्मण प्राप्त करता है। इस प्रकार प्रत्येक शब्द का ईश्वरीय संकेत रूप अर्थ ही उस-उस घर में जन्म ग्रहणकारी व्यक्ति को जन्मत: मिलता है उस कर्त्तव्य का यथार्थ रूप से निर्वाह करना ही स्वधर्म होता है। इस प्रकार स्वभाव विहित धर्माचरण किस व्यक्ति को प्रशान्ति का हेतु नहीं होता है? अतएव स्वधर्म के अनुष्ठान के अनन्तर अधिक धर्माचरणकारी बनने के लिए परधर्म का आचरण करना उचित नहीं है।।१३-१४।।

धर्मार्थमपि नेहेत यात्रार्थं वाधनो धनम् ।
अनीहानीहमानस्य महाहेरिव वृत्तिदा।।१५।।
सन्तुष्टस्य निरीहस्य स्वात्मारामस्य यत् सुखम्।
कुतस्तत् कामलोभेन धावतोऽर्थेहया दिश:।।१६।।

जिससे धर्माचरण एवं जीवन यात्रा का निर्वाह उत्तम रूप से हो वैसी व्यवस्था को ही मानव ग्रहण करे, अधिक एवं कम होने पर वह मानव परमार्थ से च्युत हो जाता है। धनहीन व्यक्ति धर्माचरण निर्वाह के लिए भी अधिक धन प्राप्ति की आकाङ्क्षा

तथा चेष्टा भी न करे अजगर की भांति सन्तोष ही उस व्यक्ति के लिए महाधन स्वरूप होता है। सन्तुष्ट आत्माराम व्यक्ति निज कर्त्तव्य रत होकर भी सुख प्राप्त करता है वह सुख काम के लोभ से जहाँ-तहाँ भटकने पर नहीं मिलता है।।१५-१६।।

सदा सन्तुष्टमनसः सर्वा सुखमया दिशः।
शर्कराकण्टकादिभ्यो यथोपानत्पदः शिवम्।।१७।।

जिस व्यक्ति का मन निज कर्त्तव्य कार्य में रत रहता है एवं उसमें सन्तुष्ट रहता है उसके लिए सब दिक् मङ्गलमय होते हैं,जैसे जिसके पैर में पादुका होती है उसका कल्याण कण्टक आदि से भी होता है।।१७।।

सन्तुष्टः केन वा राजन् न वर्तेतापि वारिणा।
औपस्थ्यजैह्व्यकार्पण्याद् गृहपालायते जनः।।१८।।
असन्तुष्टस्य विप्रस्य तेजो विद्या तपो यशः।
स्रवन्तीन्द्रियलौल्येन ज्ञानं चैवावकीर्यते।।१९।।

कर्त्तव्य में सदा सन्तुष्ट व्यक्ति यदि जल पीकर भी भूख मिटा लेता है तो भी वह परम सुखी होता है और जिसका मन सदा असन्तुष्ट ही रहता है वह उपस्थ कर्म एवं भोजन कर्म को वहुमान देकर कुत्ते के समान व्यवहार करने के लिए अपने को बाध्य कर लेता है इससे वह व्यक्ति अतिशय विपन्न होता है। इन्द्रियों की चञ्चलता हेतु उसका तेज,विद्या,तपस्या,कीर्त्ति सब कुछ चला जाता है और ज्ञान भी नष्ट हो जाता है।।१८-१९।।

कामस्यान्तं च क्षुत्तृड्भ्यां क्रोधस्यैतत्फलोदयात्।
जनो याति न लोभस्य जित्वा भुक्त्वा दिशो भुवः।।२०।।
पण्डिता बहवो राजन् बहुज्ञाः संशयच्छिदः।
सदसस्पतयोऽप्येके असन्तोषात् पतन्त्यधः।।२१।।

क्षुधा तृष्णा का अन्त भोजन पान से हो जाता है,हिंसा के द्वारा क्रोध का भी अन्त हो जाता है किन्तु सकल दिक् जय करके एवं समस्त पृथिवी भोग करके भी किसी भी व्यक्ति कभी भी लोभ का अन्त नहीं कर पाता है। बहुज्ञ एवं संशय समाधानकारी अनेक पण्डितजन एवं अनेक सभापति व्यक्ति भी असन्तोष के कारण गिर जाते हैं।।२०-२१।।

असङ्कल्पाज्जयेत् कामं क्रोधं कामविवर्जनात्।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्शनात्।।२२।।

काम,क्रोध,लोभ को संयत करने का कौशल कहते हैं-सङ्कल्प से काम होता है,सङ्कल्प परित्याग के द्वारा काम को परित्याग करे। काम के बाधक को अपसारण करने की इच्छा का नाम क्रोध है,काम को परित्याग करने से क्रोध संयत होता है,विषय विनाशी एवं अनर्थ का मूल है,इस प्रकार अनुभव करके लोभ को संयत करे। तत्त्व विचार,परमेश्वराधीन सब है,प्रारब्ध कर्म फल भोग सबको करना पड़ता है अतः वास्तविक कोई किसी के लिए सुख-दुःख का हेतु नहीं बनता है इस प्रकार तत्त्व ज्ञान से भय को दूर करे। स्त्री दर्शन,स्पर्श,स्मरणादि से ही भोगेच्छा होती

है किन्तु स्त्री सम्भोग करना कर्त्तव्य नहीं है इस प्रकार निश्चय से काम को संयत करे। यह असम्भव नहीं है,प्रतिदिन क्षुधा पिपासा शान्ति के लिए भोजन पान की आवश्यकता होती है किन्तु व्रत के दिन जब निश्चय कर लिया जाता है कि व्रत में भोजन पान नहीं करना है तब क्षुधा पिपासा संयत होती है। हिंसा करने की इच्छा को छोड़ने पर क्रोध का संयमन होता है। परिणाम को देखकर विचार करने पर विषय का अयथा लोभ नष्ट हो जाता है।।२२।।

आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दम्भं महदुपासया।
योगान्तरायान् मौनेन हिंसां कायाद्यनीहया।।२३।।

आत्म अनात्म,जड़ एवं चेतन के विवेक द्वारा शोकमोह को विदूरित करे। सात्त्विक महत् व्यक्ति की सेवा के द्वारा दम्भ कपटता को दूर करे। मौन व्रत के द्वारा योग प्रतिबन्धक लोभ,वार्त्ता प्रभृति को परित्याग करे एवं कामादि चेष्टा को छोड़कर हिंसा वृत्ति को विदूरित करे।।२३।।

कृपया भूतजं दु:खं दैवं जह्यात् समाधिना।
आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्त्वनिषेवया।।२४।।
रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वं चोपसमेन च।
एतत् सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्।।२५।।

प्राणीमात्र से प्रतिकूल आचरण प्राप्त होने पर उस प्रतिकूल आचरणकारी के प्रति हित आचरण के द्वारा दु:ख को सहन करे। दैव उपसर्ग से अकस्मात् प्राप्त वृथा मानसिक क्लेश को इष्ट में

मन को एकाग्र करके विदूरित करे। रोगादि से शरीर में समुत्पन्न क्लेश को सात्त्विक भोजन औषधि सेवन योग क्रिया,प्राणायाम एवं प्राणीमात्र की परिचर्या से दूर करें। रजोगुण एवं तमोगुण को सत्त्वगुण के आधिक्य से जय करे,सात्त्विक वृत्ति को उपशम वृत्ति से जय करे। ये सब संयम एकमात्र सद्‌गुरू की सेवा से ही होते हैं। श्रुति कहती है देवता के प्रति जैसी श्रद्धा हो वैसी श्रद्धा यदि श्रीमद् गुरू के प्रति होती है तो उसके हृदय मे तत्त्वज्ञान स्फुरित होता है। गुरू भक्ति से ही सब कुछ लभ्य है,यदि गुरू सेवा में अपने को रत न करे तो अहङ्कार के वश होकर मानव अविवेकी बन जाता है और उसका सबही विफल होता है।।२४-२५।।

यस्य साक्षात् भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ।
मर्त्यासद्धी: श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत्।।२६।।

ज्ञान प्रदानकारी गुरूदेव साक्षात् भगवत् स्वरूप होते हैं,प्रधान पुरूषेश्वर योगीगणो के अन्वेषणीय चरण आप हैं। जो लोक सद्‌गुरूदेव में मनुष्य बुद्धि रखता है उसका सब कुछ हस्ती स्नान की भांति हो जाता है। गुरूदेव में ईश्वर बुद्धि रखने से ही संयम सब सुस्थित होते हैं।प्राचीनों ने कहा है,वह व्यक्ति नारकी है जिसकी श्रीविष्णु विग्रह में प्रस्तर बुद्धि होती है,गुरू में मनुष्य बुद्धि,वैष्णव में जाति बुद्धि,चरणामृत में जलबुद्धि,श्रीहरि नाम में सामान्य शब्द बुद्धि होती है।।२६।।

एष वै भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः।

योगेश्वरैर्विमृग्याङ्घ्रिर्लोको यं मन्यते नरम्।।२७।।

योगेश्वरों के अन्वेषणीय चरण श्रीभगवान् श्रीकृष्ण श्रीगुरु रूप में सर्वत्र शिक्षा प्रदान करने के लिए अवतीर्ण होते हैं, लोक उनको मनुष्य मानते हैं।।२७।।

षड्वर्गसंयमैकान्ताः सर्वा नियमचोदनाः।

तदन्ता यदि नो योगानावहेयुः श्रमावहाः।।२८।।

धर्म कर्मादि की जितनी बात कही गयी है उनका तात्पर्य षड्वर्ग इन्द्रियादि के संयम में ही है एवं गुरु सेवा प्रभृति के द्वारा इन्द्रिय संयम करने के बाद धारणा ध्यान समाधि का अभ्यास अवश्य करें अन्यथा भगवत्प्राप्ति नहीं होगी केवल परिश्रम ही होगा।।२८।।

यथा वार्तादयो ह्यर्था योगस्यार्थं न बिभ्रति।

अनर्थाय भवेयुस्ते पूर्तमिष्टं तथासतः।।२९।।

भगवत् विषयक ध्यान धारणा चित्त की एकाग्रता के साधनों को अपनाना परम आवश्यक है अन्यथा कृषि वाणिज्य प्रभृति जीविका हेतु जो भी साधन हैं वह साधन एवं उसका फल विषय भोग सम्पादन के लिए ही होता है और विषय भोगेच्छा संसार के लिए ही होती है, उक्त साधन एवं फल भी मोक्ष के लिए नहीं होता है, उस प्रकार भगवत् बहिर्मुख असत् चित्त वाले व्यक्ति की धर्मशाला, जलदान, भोजनदान, वस्त्र, औषधि प्रभृति दान प्रचेष्टा

अनर्थ के लिए होती है एवं विफल भी होती है कारण इससे जनता निखिल दुर्गुणों का आकर बन जाती है।।२९।।

यश्चित्तविजये यत्तः स्यान्निःसङ्गोऽपरिग्रहः।

एको विविक्तशरणो भिक्षुर्भिक्षामिताशनः।।३०।।

पूर्व-पूर्व श्लोकों में गृहस्थ आदि मानव को चित्त संयम करने का उपाय कहा गया है। सम्प्रति सन्यास ग्रहण का अधिकारी एवं भिक्षा वृत्ति द्वारा जीवित रहने के अधिकारी का वर्णन करते हैं। चित्तवृत्ति के संयम करने के महत्त्व एवं निरन्तर अभ्यास में रत होकर जो जन गृहस्थ आश्रम के समस्त कर्त्तव्य का पालन यथायथ करता है इस अवस्था में सांसारिक विषयों के समाधान मूलक अङ्ग समूह विस्तृत होने पर यदि सत्य ही चित्त को अन्तर्मुखी करने में बाधा आ जाती है तव वह व्यक्ति संयत परायण होकर भी कुटुम्बादि सङ्गदोष से कामादि को संयत करना असम्भव हो जाता है तो वह गृही विना विचार से ही स्पष्ट रूप से नतु भागकर,छिपकर सन्यास ग्रहण करे एवं भिक्षा वृत्ति से ही जीवन रक्षा के लिए पवित्र एवं परमित भोजन करे। जिसका पूर्व आश्रम ग्रहण नही है उसका त्याग नहीं होता है और जो व्यक्ति ईश्वरीय अनुशासन को मानकर पहले नहीं चलता है उसका अहङ्कार त्याग रूप सन्यास एवं निरभिमानी स्वरूप भिक्षावृत्ति का अवलम्बन भी नहीं होता है। विषय तृष्णातुर व्यक्ति के लिए सन्यास एवं भिक्षा वृत्ति विहित नहीं हैं।।३०।।

देशे शुचौ समे राजन् संस्थाप्यासनमात्मनः।
स्थिरं समं सुखं तस्मिन्नासीतर्ज्वङ्ग ओमिति।।३१।।
प्राणापानौ संनिरुध्यात् पूरकुम्भकरेचकैः।
यावन्मनस्त्यजेत् कामान् स्वनासाग्रनिरीक्षणः।।३२।।
यतो यतो निःसरति मनः कामहतं भ्रमत्।
ततस्तत उपाहृत्य हृदि रुन्ध्याच्छनैर्बुधः।।३३।।

समतल भूमि में पवित्र निज आसन को उपवेशन हेतु स्थापन करे,दूसरे के आसन में न बैठे। व्यक्ति भेद से उद्देश्य भिन्न होता है उसका संक्रमण सम्पर्कित वस्तु में भी होता है। सुखपूर्वक बैठा जा सके वैसा आसन होना आवश्यक है उसमें स्थिर भाव से एवं समान भाव से उपवेशन करे। उपवेशन के समय शरीर सीधा होना आवश्यक है एवं प्रणव ओंकार उच्चारण रत होना आवश्यक है। पूरक कुम्भक रेचक विधि से प्राणायाम द्वारा प्राण एवं अपान वायु को निरुद्ध करे। दृष्टि को निज नासाग्र भाग में स्थापन करे एवं सकल कामचिन्ता को वर्जन करे। काम वासना से चञ्चल मन जब भगकर जहाँ-तहाँ दौड़ता रहता है वहाँ से मन को पकड़कर क्रमपूर्वक हृदय में अवरुद्ध करे।।३१-३२-३३।।

एवमभ्यसतश्चित्तं कालेनाल्पीयसा यतेः।
अनिशं तस्य निर्वाणं यात्यनिन्धनवह्निवत्।।३४।।

जो व्यक्ति उक्त प्रकार से निरन्तर संयम का अभ्यास

करता है अल्पकाल के मध्य में ही उस व्यक्ति का चित्त काष्ठहीन अनल की भाँति निर्वाण अर्थात् शान्ति को प्राप्त कर लेता है ।।३४।।

कामादिभिरनाविद्धं प्रशान्ताखिलवृत्ति यत्।
चित्तं ब्रह्मसुखस्पृष्टं नैवोत्तिष्ठेत कर्हिचित्।।३५।।

जिसका चित्त कामादि द्वारा लुब्ध नहीं होता है वह कभी भी विषय भोग के लिए जागरूक नहीं होता है और विक्षिप्त भी नहीं होता है कारण ग्राम्य सुखानुभव के बाद अलौकिक अपरिमित सुख के साथ सम्पर्क होने पर चित्त की समस्त वृत्ति शान्त हो जाती है।।३५।।

यः प्रव्रज्य गृहात् पूर्वं त्रिवर्गावपनात् पुनः ।
यदि सेवेत तान् भिक्षुः स वै वान्ताश्यपत्रपः।।३६।।

जो व्यक्ति सन्यास ग्रहण के बाद लोकैषणा,वित्तैषणा,पुत्रैषणा रूप इच्छा के प्रति लिप्सु होता है तो वह व्यक्ति अतिशय निन्दित होता है। वह वमन कर भोजनकारी एवं अत्यन्त निर्लज्ज होता है कारण धर्म,अर्थ,काम,मोक्ष का स्थान ही गृहस्थाश्रम है उसमें त्रिवर्ग को भोगकर ही विपुल सुख रूप समता को जानने के लिए आत्म नियोग करने के बाद पुनर्वार व्यक्तिगत देहेन्द्रिय तृप्ति के लिए आत्मनियोग करता है तो वह सबसे निन्दित व्यक्ति होता है।।३६।।

यैः स्वदेहः स्मृतो नात्मा मर्त्यो विड्कृमिभस्मसात्।

त एनमात्मसात्कृत्वा श्लाघयन्ति ह्यसत्तमा:।।३७।।

सबसे उत्तम असत् व्यक्ति के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है,पहले जिसको अत्यन्त असत् रूप से जाना है स्वार्थवश होकर वही व्यक्ति परिपूर्ण उस असत् व्यक्ति का गुणगान करता रहता है अत: सन्यास ग्रहण के अनन्तर पुनर्वार गृहस्थ होगा। विषय देहेन्द्रिय प्रभृति विषयों में पूर्वापेक्षा अधिक आसक्त होगा,अत्यन्त अस्वच्छ चित का होना असम्भव नहीं है इसमें आश्चर्य की बात ही नहीं है ऐसा होता ही है। जो पहले देह को अनात्मा एवं मरण धर्मशाली उत्तम रूप से जानकर कृमि एवं भस्म के समान मानता है वह ही उसी देह को पुनर्वार स्वल्प काल के अन्दर आत्मा प्रिय मधुर मानकर स्तुति करने के लिए मुखरित हो जाता है इसके कारण ही वह व्यक्ति अतिशय असतू है।।३७।।

गृहस्थस्य कियात्यागो व्रतत्यागो वटोरपि ।
तपस्विनो ग्रामसेवा भिक्षोरिन्द्रियलोलता।।३८।।
आश्रमापसदा ह्येते खल्वाश्रमविडम्बका:।
देवमायाविमूढांस्तानुपेक्षेतानुकम्पया।।३९।।

सन्यासी के चरित्र को कहकर अपर स्वधर्म त्यागी की निन्दा करने लिए कहते हैं। गृहस्थ व्यक्ति गृहस्थोचित कर्त्तव्य को परित्याग करता है,ब्रह्मचारी व्यक्ति अध्ययन,गुरूसेवा,गुरूमर्यादा पालन को छोड़ता है, तपस्वी व्यक्ति ग्राम्य धर्म की सेवा करता है और भिक्षु इन्द्रिय चञ्चलता से विषय भोग करता है तो ये सब

व्यक्ति अत्यन्त निन्दनीय तो होते ही है अधमाश्रमी तथा नटरूप आश्रमी होते हैं। दयाकर इन सबको समर्थन नहीं देना चाहिए तथा दया करके उत्तम उपदेश देना आवश्यक है जिससे वे लोक समाज को दूषित न करें एवं अपना आचरण शुद्ध बनावें,कारण वे लोक देवमाया से विमुढ़ होते हैं।।३८-३९।।

आत्मानं चेत् विजानीयात् परं ज्ञानधुताशयः।
किमिच्छन् कस्य वा हेतोर्देहं पुष्णाति लम्पटः।।४०।।

कहा जाता है कि-जो लोक साधु,सन्यासी,त्यागी अनन्य रसिक स्वामी,आचार्य,परमहंस हो गये हैं उनको पाप कर्म स्पर्श करता ही नहीं है और आत्मज्ञानी होने पर शरीर कर्म यथेष्ट उपस्थ सञ्चालन से भी पापी नहीं होता है तो निन्दा किस बात की है? उत्तर में कहते हैं वेष का आदर करो,अवज्ञा न करो,जो करता है उसका फल भोग वह ही करेगा,किसी की निन्दा न करो,यह सब इस प्रकरण के अनुकूल ही नहीं है। अनुशासन तो यह है कि दुर्नीति को समर्थन प्रदान करना अनुचित है कारण वे सब झूठे होते हैं, जो व्यक्ति परब्रह्म को जान गया है उत्तम ज्ञान के द्वारा जिसकी व्यक्तिगत भोग वासना निरस्त हो गयी है तब वह किसके लिए किस कारणवश लोलुप होकर देहेन्द्रिय का पोषण निन्दनीय रूप से करेगा? अर्थात् ब्रह्मज्ञ व्यक्ति के लिए इन्द्रिय चापल्य की सम्भावना ही नहीं है।।४०।।

आहुः शरीरं रथमिन्द्रियाणि हयानभीषून् मन इन्द्रियेशम्।

वर्त्मानि मात्रा धिषणां च सूतं सत्त्वं बृहद् बन्धुरमीशसृष्टम्।।४१।।

अक्षं दशप्राणमधर्मधर्मौ चक्रेऽभिमानं रथिनं च जीवम्।

धनुर्हि तस्य प्रणवं पठन्ति शरं तु जीवं परमेव लक्ष्यम्।।४२।।

शरीर में अहं बुद्धि ही निखिल अनर्थ का मूल है,अज्ञता इसीसे होता है, अज्ञ होकर इन्द्रिय लोलुप होने पर नरक अवश्य ही होगा अतः अप्रमत्त होकर तत्व ज्ञान के लिए प्रयत्न करना परम आवश्यक है। श्रुति शरीर को रथ रूप मे वर्णन करती है उस सम्वाद को कहते हैं-पण्डितगण इस मानव शरीर को रथ,इन्द्रियगण को अश्व,इन्द्रिय के ईश्वर मन को रश्मि,शब्दादि विषय को मार्ग गन्तव्य देश,बुद्धि को सारथि एवं चित्त को देह व्यापि बन्धन कहते हैं किन्तु उक्त बन्धन ईश्वर सृष्ट है अर्थात् बन्धन का कर्त्ता परमेश्वर है।।४१।।

प्राण,अपान,समान,व्यान,उदान,नाग,कूर्म,कृकल,देवदत्त, धनञ्जय दशविध प्राण को अक्ष,धर्म-अधर्म को चक्र,अहङ्कार के साथ वर्तमान जीव को रथी कहते हैं,प्रणव रथी का धनुष है,शुद्ध जीव उसके शर हैं और परब्रह्म उसका लक्ष्य है। यहाँ पर धर्म अधर्म परित्याग रूप सन्यास है,रथादि समस्त सामग्री होने पर भी धनुष के विना सब व्यर्थ है उस प्रकार श्रीगुरु प्रसाद रूप महामूल्य प्रणव धनुष के विना सब व्यर्थ है,इस प्रणव के द्वारा ही जीव ब्रह्म के साथ मिलित होता है। इस रूपक से ब्रह्म शत्रु स्थानीय

होते हैं,असुर की भाँति मुनिगण तन्मयता से मुक्त होते हैं,परमेश्वर करुण हैं निज वीर रस का आस्वादन भक्त से करते हैं। ज्ञानी में भक्ति कला को देखकर उसे मुक्ति प्रदान करते हैं। कुछ लोग कहते हैं-द्रौपदी स्वयम्वर में राजा चक्रवर्त्ति मीन के समान परमात्म जिस प्रकार अर्जुन निज बाहुबल से शर द्वारा मत्स्य भेदन कर द्रौपदी को प्राप्त किया उस प्रकार ज्ञानीगण भक्ति बल से ही मुक्ति को प्राप्त करते है।।४२।।

रागो द्वेषश्च लोभश्च शोकमोहौ भयं मदः।
मानोऽवमानोऽसूया च माया हिंसा च मत्सरः।।४३।।
रजः प्रमादः क्षुन्निद्रा शत्रवस्त्वेवमादयः।
रजस्तमःप्रकृतयः सत्त्वप्रकृतयः क्वचित्।।४४।।

जिस प्रकार स्वयम्वरा कन्या प्राप्ति के लिए दुष्ट राजन्य को बलवान् व्यक्ति पराजित करके कन्या लाभ करता है उस प्रकार भगवद् भक्ति बल से बलवान् यति ज्ञान रूपी खड्ग के द्वारा रागद्वेष प्रकृति को पराजित करे। राग,द्वेष,लोभ,मोह,क्रोध,भय,मद,मान,अवमान,असूया,माया,हिंसा,मात्सर्य,अभिनिवेश,अनवधानता,क्षुधा,निद्रा,प्रभृति एवं अन्यान्य विषय समूह मानव के शत्रु होते हैं। यह सब रजः तमः प्रकृति के होते तो हैं कहीं पर सत्त्व प्रकृति के भी होते हैं,परोपकारादि सत्त्व प्रकृति के होते हैं किन्तु यति के लिए परोपकारादि शत्रु होते हैं अतएव सबको जय करना लक्ष्य पर

पहुँचने के लिए आवश्यक है।।४३-४४।।

यावन्नृकायरथमात्मवशोपकल्पं
धत्ते गरिष्ठचरणार्चनया निशातम्।
ज्ञानासिमच्युतबलो दधदस्तशत्रुः
स्वाराज्यतुष्ट उपशान्त इदं विजह्यात्।।४५।।

इन्द्रिय सकल इस मानव देह के रथ के उपकरण हैं उनको निज वश में रखकर ही इस देह में अवस्थान करें एवं गुरूजन प्रभृति माननीय व्यक्तियों की चरण सेवा से प्राप्त तीक्ष्ण ज्ञान खड्ग द्वारा अज्ञान को विनष्ट कर अच्युत श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करें। अनन्तर निरस्त शत्रु व्यक्ति स्वानन्दानुभव से सन्तुष्ट होकर रथादि की उपेक्षा करें।

इन्द्रियादि परिकर युक्त शरीर रूप रथ में निवास कर मानव भक्ति सम्पन्न श्रीगुरू चरण की सेवा कर उत्तम ज्ञान प्राप्त करें पश्चात् उस ज्ञान के द्वारा श्रीकृष्ण चरण प्राप्त कर निरस्त शत्रु होकर स्वाराज्य स्वानन्द से सन्तुष्ट होकर ही सपरिकर रथादि को परित्याग करें कारण उसके बाद कोई प्रयोजन नहीं रहता है। जिस प्रकार शत्रु जय एवं स्वाराज्य प्राप्ति के बाद पुरुष रथ धनु एवं शर से अलग हो जाता है किन्तु शरीर से वियुक्त नहीं होता है उस प्रकार ही ज्ञानी व्यक्ति उपाधि प्रभृति एवं मुक्ति साधनों से वियुक्त होकर ज्ञानान्तर्भूत अनन्य भक्ति कला से युक्त होकर ही परमात्मा के साथ सायुज्य प्राप्त करता है उससे वियुक्त नहीं

होता है। भक्ति स्वरूप भक्ति की वृत्ति होने के कारण ही परमात्मा के साथ एकता सम्भव है ज्ञान एवं अज्ञान दोनों ही मायिक वृत्ति हैं अतः दोनों की उपेक्षा समीचीन है अतएव प्रणव ही धनुष,शर जीव है एवं लक्ष्य परमात्मा है जहाँ पर शर धनुष एवं रथ से वियुक्त होकर पुरुष के बल से वेग को प्राप्त कर लक्ष्य में प्रविष्ट होता है उस प्रकार शुद्ध जीव देहेन्द्रिय अशुद्ध जीवाज्ञान स्वरूप अविद्या को छोड़कर मुक्ति साधन कारण प्रणव स्वरूप विद्या को भी छोड़कर शुद्ध भक्ति कला के साथ उसके प्रभाव से परमात्मा को जानकर परमात्म सायुज्य प्राप्त करता है। श्रीभगवान् ने कहा भी है-

ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।।भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरं।।पद्य द्वय का अर्थ इस प्रकार है-भक्ति मिश्र ज्ञान के परिपाक से उपाधि विनष्ट होने पर ही ब्रह्मभूत अनावृत चैतन्य रूप से ब्रह्म रूप होता है। अहङ्कार रूप गुण मालिन्य विदूरित होने पर आत्मा प्रसन्न होती है देहाभिमान न रहने से पूर्वदशा की भाँति वस्तु नष्ट होने पर उसके लिए शोक नहीं करता अप्राप्त विषय की आकाङ्क्षा भी नहीं करता है,वाह्यानुसन्धान के अभाव से भद्र एवं अभद्र में सम बुद्धि होती है इसके बाद इन्धन हीन अग्नि की भाँति ज्ञान शान्त होने पर ज्ञानान्तर्भूत अनश्वर ईश्वर भक्ति को प्राप्त करता है वह

भक्ति भगवत्स्वरूप शक्ति की वृत्ति रूप होने से माया शक्ति से भिन्न है एवं अविद्या एवं विद्या का अपगम होने पर भी भक्ति का अपगम नहीं होता है अतएव निष्काम कर्म एवं स्वरूप ज्ञान से सम्पूर्ण भिन्न परा भक्ति का लाभ होता है किन्तु मोक्ष प्राप्त कराने के लिए मोक्ष साधक ज्ञान एवं वैराग्य में कला रूप में यह भक्ति उपस्थित होने पर भी समस्त भूतों में अवस्थित अन्तर्यामी की जिस प्रकार उपलब्धि नहीं होती है उस प्रकार ही उस शुद्धा भक्ति की स्पष्ट रूप से उपलब्धि नहीं होती। अतएव विधायक श्लोक में "कुरुते" न कहकर "लभते"कहा है। माष मूंग आदि में मिलाकर रहने वाला काञ्चन खण्ड,माष मूंग नष्ट हो जाने पर भी जैसे नष्ट नहीं होता है और उससे पृथक् रूप में काञ्चन खण्ड का लाभ होता है इस प्रकार ही जानना होगा। सम्पूर्ण प्रेमभक्ति लाभ की उस समय कोई सम्भावना ही नहीं है न तो उस भक्ति का लाभ सायुज्य मुक्ति ही है इसलिए "मद्भक्तिं लभते पराम्"यहाँ पर परा प्रेमभक्ति लक्षणा भक्ति प्रेमलक्षणा भक्ति रूपा पराभक्ति की बात यहाँ पर नहीं कही गई है। अच्छा तो उस भक्ति लाभ से क्या लाभ होगा? उत्तर देते हैं-मैं जिस प्रकार हूँ,जो भी हूँ,उस मुझको तत्पदार्थ को ज्ञानी,अथवा नानाविध भक्त,भक्ति से ही जान पाते हैं कारण भक्ति से ही लोक मुझे जान पाते हैं मैं एकनिष्ठ भक्ति से ही ग्राह्य हूँ। जबकि स्थिति इस प्रकार ही है तब उस भक्ति द्वारा ही विद्या के उपरम होने के पश्चात् ही मुझको वे लोक जान पाते

हैं मेरे साथ सायुज्य सुख का अनुभव करते हैं। श्रीभगवान् मायातीत हैं और विद्या मायिक है अतः मैं विद्या के अगम्य हूं। कहा गया है कि-सांख्य,योग वैराग्य,तपः,केशव में भक्ति यह पञ्च पर्वा विद्या जिससे विद्वान् हरि में सायुज्य प्राप्त कर सकता है-इससे भक्ति विद्या की ही वृत्ति है ऐसी प्रतीति होती है? सायुज्य सुख के लिए स्वरूप शक्ति की वृत्ति की आवश्यकता है किसी उस भक्ति की किञ्चित् कला विद्या को सफल बनाने के लिए विद्या में प्रविष्ट हो जाती है जैसे निष्काम कर्म योग को सिद्ध करने के लिए भक्ति कर्म योग में प्रविष्ट होकर रहती है उस भक्ति के बिना तो कर्मयोग,ज्ञान प्रभृतियों में तो केवल श्रम ही होता है अतएव निर्गुणा भक्ति सत्त्व गुणमयी विद्या की वृत्ति वस्तुतः नहीं होती है किञ्च सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम् मायिक सात्त्विक वृत्ति से ही ज्ञानोत्पन्न होता है। सत्त्व ज्ञान विद्या ही है उस प्रकार भक्ति से उत्थित ज्ञान भी भक्ति ही है अतः ज्ञान भी द्विविध है-एक निर्निमेष वीक्षणवत् दूसरा कटाक्षपूर्ण वीक्षणवत्। प्रथम तो मुक्ति साधक होता है दूसरा भगवत् सुखैक तात्पर्य परायण हैं।।४५।।

नो चेत् प्रमत्तमसदिन्द्रियवाजिसूता
नीत्वोत्पथं विषयदस्युषु निक्षिपन्ति!
ते दस्यवः सहयसूतममुं तमोऽन्धे
संसारकूप उरुमृत्युभये क्षिपन्ति।।४६।।

भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र को आश्रय रूप से वरण न करने पर

इन्द्रिय रूप अश्वगण एवं मनःरूप सारथि उस प्रमत्त व्यक्ति का उत्पथ रूप प्रवृत्ति मार्ग में ले जाकर विषय नामक विषम दस्यु के मध्य में निक्षेप करेगा, तदनन्तर दस्युगण अश्व एवं सारथि के साथ उस व्यक्ति को अन्धकारमय संसार कूप रूप गुरुतर मृत्युभय में डाल देगा। अच्युत की सहायता के विना साध्य सिद्धि होना सम्भव नहीं है किन्तु अधःपात ही होगा, यदि रथि का बल न हो तो पतन अवश्यम्भावी है। इस प्रकार जीव में यदि ईश्वर भक्ति नहीं होती है तो पतन अवश्यम्भावी है, प्रमत्त जीव को लक्ष्य के पथ पर ले जाना वैसा ही होता है जैसा कि बल न होने पर भी लक्ष्य प्राप्ति के लिए व्यक्ति को आरोहण कराने से होता है। यहाँ पर दस्युगण रागद्वेषादि हैं।।४६।।

प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्।
आवर्तेत प्रवृत्तेन निवृत्तेनाश्नुतेऽमृतम्।।४७।।

विषय भोग तो शास्त्र विहित ही हैं केवल निषिद्ध नहीं है तब क्यों अनर्थ प्राप्ति होगी ? इस प्रकार आशङ्का नही हो सकती है। वेदोक्त कर्म अधिकारी भेद से दो प्रकार हैं फल भेद भी है। प्रवृत्त कर्म में आसक्त होने पर पुनरावृत्ति होती है किन्तु निवृत्ति कर्मानुष्ठान में रत होने पर अमृत मुक्ति लाभ होता है। इस विषय को दश श्लोको से कहते हैं।।४७।।

हिंस्रं द्रव्यमयं काम्यमग्निहोत्राद्यशान्तिदम्।
दर्शश्च पूर्णमासश्च चातुर्मास्यं पशुः सुतः।।४८।।

शत्रु वधार्थ श्येन यागादि काम्य कर्म है तथा दर्श,पूर्णमास,चातुर्मास्य,पशुयाग प्रभृति अतिशय आसक्ति युक्त कर्म हैं इनसे शान्ति नहीं हो सकती है।।४८।।

एतदिष्टं प्रवृत्ताख्यं हुतं प्रहुतमेव च।

पूर्तं सुरालयारामकूपाजीव्यादिलक्षणम्।।४९।।

वैश्यदेव एवं बलिहरण प्रभृति कर्म को इष्ट कहते हैं। यह सब काम्य एवं अशान्तिप्रद है एवं इसको प्रवृत्त कर्म कहा जाता है और देवालय निर्माण,उपवन,कूप एवं पानीयशाला स्थापन प्रभृति कर्म को पूर्त कहते हैं।।४९।।

द्रव्यसूक्ष्मविपाकश्च धूमो रात्रिरपक्षयः।

अयनं दक्षिणं सोमो दर्शं ओषधिवीरुधः।।५०।।

अन्नं रेतं इति क्ष्मेश पितृयानं पुनर्भवः।

एकैकश्येनानुपूर्वं भूत्वा भूत्वेह जायते।।५१।।

प्रवृत्त कर्माचरण द्वारा जिस प्रकार आरोहण अवरोहण आवृत्ति प्रभति होते हैं उसको सुनो। इस जन्म में यागादि कर्म द्वारा अदृष्ट के लिए चरु एवं पुरोडाश की आहुति देते हैं उसका सूक्ष्म में परिणत मृत्यु के बाद देह प्राप्ति के लिए होता है।

अपर धूम,धूमाभिमानिनी देवता रात्रि अर्थात् रात्रि अभिमानिनी देवता कृष्णपक्ष,दक्षिणायन एवं चन्द्रलोक प्रभृति को क्रम से जीव मरण के अनन्तर प्राप्त करता है अर्थात् मृत्यु के पश्चात् स्वकृत चरु पुरोडाशादि के सूक्ष्म परिपाक से पहले जीव

को सूक्ष्म देह मिलता है तत्पश्चात् क्रमशः धूम रात्रि कृष्णपक्ष दक्षिणायन प्रभृति के अभिमानी देवता द्वारा वह जीव चन्द्रलोक को प्राप्त करता है वहाँ पर कर्मानुसार भोग सम्पन्न होता है। चन्द्रलोक के भोग का अवसान होने पर उक्त देह नष्ट हो जाता है वह पहले अदृश्य होकर बाद में वर्षा के द्वारा क्रमशः ओषधि,लता,शस्य,शूक रूप में परिणत होता है इस प्रकार प्रवृत्त कर्म मार्ग पुनर्जन्म का हेतु होता है।।५०-५१।।

निषेकादिश्मशानान्तैः संस्कारैः संस्कृतो द्विजः।
इन्द्रियेषु क्रियायज्ञान् ज्ञानदीपेषु जुह्वति।।५२।।

अवरोह के प्रकार को कहते हैं चन्द्रलोक में भोगावसान के पश्चात् प्रथमतः देह विनाश होने पर अदर्शन होता है तदनन्तर क्रमशः वर्षा के द्वारा ओषधि प्रभृति का सान्निध्य प्राप्त होकर इस अवनी में पुनर्वार उत्पन्न होता है उसके बाद निषेकादि श्मशानान्त संस्कार द्वारा संस्कृत होने पर वह द्विज कहलाता है।।५२।।

इन्द्रियाणि मनस्यूर्मौ वाचि वैकारिकं मनः।
वाचं वर्णसमाम्नाये तमोङ्कारे स्वरे न्यसेत्।
ओङ्कारं विन्दौ नादे तं तं तु प्राणे महत्यमुम्।।५३।।

काम्य कर्म परायण की उपासना पद्धति को कहकर निवृत्त कर्मनिष्ठ की अर्चिरादि मार्ग के द्वारा ब्रह्मप्राप्ति को कहते हैं। निवृत्त कर्मरत व्यक्ति का पुनर्जन्म ग्रहण नहीं होता है उसकी ब्रह्मलोक

प्राप्ति होती है,वे सब जीवित अवस्था में ही मुक्त होते हैं,ज्ञान के द्वारा परिचालित इन्द्रियों में क्रिया समूह का तर्पण करते हैं। पश्चात् इन्द्रिय के विषयों को संकल्प रूप मनमें विकार युक्त मन को वेदोक्त विधि वाक्य में अर्पण करते हैं कारण विधि वाक्य से ही मन विकार को प्राप्त कर लेता है। वह वाक्य वर्ण समुदाय रूप है उसको अकारादि स्वरत्रय रूप ओङ्कार में अर्पण करते हैं पश्चात् ओङ्कार को विन्दु में, विन्दु को सूत्रात्मा में अर्पण कर सूत्रात्मा को ब्रह्म में लीन करते हैं।।५३।।

अग्निः सूर्यो दिवा प्राह्णः शुक्लो राकोत्तरं स्वराट्।
विश्वश्च तैजसः प्राज्ञस्तुर्य आत्मा समन्वयात्।।५४।।

निवृत्त कर्मरत व्यक्तिगण यथा क्रम से अग्नि,सूर्य,दिवस,प्राह्ण-दिवस का अन्त,शुक्लपक्ष,राका-शुक्लपक्ष का अन्त,उत्तरायण एवं ब्रह्मा प्रभृति के अभिमानिनी देवता प्रभृति को प्राप्त होते हैं अर्थात् प्रथम अग्न्याभिमानी देवता के समीप जाकर पश्चात् सूर्यादि देवताभिमानी के निकट शयन करते हैं इस प्रकार ब्रह्मलोक प्राप्त व्यक्ति के भोगावसान के पश्चात् प्रथम विश्व अर्थात् स्थूलोपाधि होती है उसके बाद स्थूल को सूक्ष्म में लीन कराने से सूक्ष्मोपाधि तैजस होती है,सूक्ष्म को कारण में लीन करने पर कारणोपाधि होती है उसके बाद सर्वत्र साक्षी रूप में अवस्थित होने के कारण को साक्षी में लीन कर तुरीय होता है अनन्तर साक्षी का विलय करने पर शुद्ध आत्म स्वरूप होता

है।।५४।।

देवयानमिदं प्राहुर्भूत्वा भूत्वानुपूर्वशः।

आत्मयाज्युपशान्तात्मा ह्यात्मस्थो न निवर्तते।।५५।।

पण्डितगण इस मार्ग को देवयान कहते हैं पूर्णमार्ग को पितृयान कहते हैं। पितृयान के व्यक्तिगण भोगान्त में पुनर्वार अवनी में जन्म ग्रहण करते हैं। आत्मज्ञानी उपशान्तात्मा आत्मस्थ पुरुष उक प्रकार से ब्रह्मलोक प्राप्त होने के बाद पुनर्वार पृथिवी में जन्म ग्रहण नहीं करते हैं।।५५।।

य एते पितृदेवानामयने वेदनिर्मिते।

शास्त्रेण चक्षुषा वेद जनस्थोऽपि न मुह्यति।।५६।।

पितृयान एवं देवयान नामक दो मार्ग वेद के द्वारा निर्मित हुए हैं जो व्यक्ति शास्त्र चक्षु द्वारा उक्त मार्गद्वय को देखता है वह देहस्थ होकर भी मोहित नहीं होता है।।५६।।

आदावन्ते जनानां यद् बहिरन्तः परावरम्।

ज्ञानं ज्ञेयं वचो वाच्यं तमो ज्योतिस्त्वयं स्वयम्।।५७।।

शरीर में मुग्ध न होने के कारण को कहते हैं। देहादि के कारण रूप में एव अन्त में अवधि रूप जो सद्वस्तु विद्यमान है जो कुछ भोग्य-भोक्ता,उच्च-नीच,प्रकाश-अप्रकाश स्वरूप है,सब कुछ परमात्म नामक सत् वस्तु का ही प्रकाश है उसके विना कुछ भी पदार्थ प्रकाशित नहीं होता है। अतएव ज्ञानी जीव कभी भी शरीर में रहकर मुग्ध नहीं होता है।।५७।।

आवाधितोऽपि ह्याभासो यथा वस्तुतया स्मृतः।
दुर्घटत्वादैन्द्रियकं तद्वदर्थविकल्पितम्।।५८।।

यदि पदार्थ की सत्ता ही नहीं है तव कैसे पृथक् रूप से पदार्थ प्रतिभात होते हैं ? समस्त पदार्थ की चेतन को छोड़कर पृथक् सत्ता न होने पर भी बालकगण सूर्यादि रश्मि के आभास को पृथक् रूप से मानते हैं उस प्रकार मूढ़गण देह इन्द्रिय और विषय समूह को पृथक् स्वतन्त्र रूप से मानते हैं किन्तु ऐसा नहीं है कारण तत्व दृष्टि से उक्त पदार्थ समूह को पृथक् रूप से स्थापन करना सम्भव नहीं है। यहां पर अनुसन्धान की बात यह है कि-उपासना पद्धति दो प्रकार है। अद्वय ज्ञान ही ब्रह्म है यह ब्रह्मोपासना की पद्धति है,अपरा पद्धति भक्ति पद्धति है इसमें एक वासुदेव तत्व ही निज शक्ति के द्वारा विलसित है। प्रथम ब्रह्मोपासना पद्धति को विवर्त्तवाद के द्वारा दिखाने के लिए आठ श्लोक की अवतारणा करते हैं। विविध शक्ति वैचित्रीमय विश्व की प्रतीति सत्य रूप होने पर ब्रह्मोपासना ही नहीं होगी अतः ज्ञानी अधिकारी के लिए विश्व को मिथ्या दिखाना आवश्यक है और यह भी विवर्त्तवाद से सम्भव है। जिस प्रकार भक्ति वाद में "तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णं निवेशयेत्" कहा गया है उस प्रकार ही अध्यात्मवाद की सार्थकता है। ज्ञानियो के मनः ब्रह्म में संलग्न करने के लिए विश्व को सत्य रूप से मानने पर अवलम्बन विहीन मन के द्वारा विश्व को ग्रहण न करने का कोई उपाय नहीं

निकलेगा,कोटि-कोटि निषेध वचन भी उस कार्य को कर नही सकेगा अतएव शास्त्र का तात्पर्य विवर्त्तवाद में है ऐसा कहा गया है। विश्व की भाँति ज्ञानीगण यदि श्रीभगवत् धाम,नाम,रूप,गुण,लीला,परिकर प्रभृति को असत्य मानते है तो ज्ञानियो का अध:पतन अनिवार्य है। श्रीभरत ने भी रहूगण को प्रबुद्ध करने के लिए "अयं जनो नाम चलन् पृथिव्याम्" यह कहकर विश्व को मिथ्या कहा है। तव सत्य क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में आपने कहा है कि"भगवत् शब्द संज्ञं यद् वासुदेवं कवयो वदन्ति" इससे ही आपने कथन का उपसंहार कर दिया है।।५८।।

क्षित्यादीनामिहार्थानां छाया न कतमापि हि।

न संघातो विकारोऽपि न पृथङ्नान्वितो मृषा।।५९।।

पृथिवी प्रभृति पञ्चभूत की छाया से ही देहादि संघात का आरम्भ एवं परिणाम है ऐसा कहना असम्भव है। वह क्या अवयव से पृथक् आरम्भ अथवा परिणाम होता है अथवा उससे युक्त होकर ही होता है ? अत: मिथ्या ही है,देहादि की मिथ्या रूप में अवस्थिति मिथ्या ही है। जिस प्रकार वृक्ष समूह का संघात ही वन है उस प्रकार पञ्चभूत का समूह ही देह नहीं है कारण एक देश के आकर्षण से सबका आकर्षण होता है,एक वृक्ष के आकर्षण से वन का आकर्षण नहीं होता है। इस प्रकार विकार अर्थात् परिणाम भी नहीं है कारण वह अवयव से भिन्न भी नही है और किसी के साथ युक्त भी नही है अत: पदार्थ मिथ्या ही है।।५९।।

धातवोऽवयवित्वाच्च तन्मात्रावयवैर्विना।

न स्युर्ह्यसत्यवयविन्यतन्नवयवोऽन्ततः।।६०।।

देहादि का स्वतन्त्र रूप से निरूपण नहीं हो सकता है उसके कारण क्षिति प्रभृति भी स्वतन्त्र रूप से सुतरां अनिरूपणीय हैं। इस प्रकार अवयव भी स्वतन्त्र नहीं हो सकता है,जब अवयवि का निरूपण ही सम्भव नहीं है अतएव एकता से जो प्रतीति है वह सब ही परमात्म स्वरूप वस्तु है। इसलिए आदि अन्त में सत् को कहना उत्तम कथन है।

तृतीय स्कन्ध में भी कहा गया है कि ईश्वर ने शक्तियो को पृथक् रूप से देखकर उत्क्रमण काल रूप शक्ति को प्रकट किया उससे त्रयोविंशति तत्व का आविर्भाव हुआ उसमें भगवान् चेष्टा रूप से प्रविष्ट हो गये सुप्त कर्म को ग्रहण कर सबका विभाजन कर दिया,अतः श्रुति में जिनका पृथिवी शरीर कहा गया है इससे परमात्मा ही शरीर है अतएव अवयव रूप से प्रधान परिणाम स्वरूप है और अवयवी परमात्मा है,और वस्तु है,उसके अमिथ्या जगत् की उत्पत्ति होती है।।६०।।

स्यात् सादृश्यभ्रमस्तावद् विकल्पो सति वस्तुनः।

जाग्रत्स्वापी यथा स्वप्ने तथा विधिनिषेधतः।।६१।।

यदि परमात्म वस्तु ही सर्वत्र अवयवी देह हो तो उसमें ब्राह्मण प्रभृति संज्ञा भी होगी तव गुण दोष के कारण विधि निषेध की भी प्राप्ति होगी,यह सम्भव नहीं है अतएव अवयवी अन्य होना

ही ठीक है। इस आशङ्का के उत्तर में कहते हैं-परमात्म वस्तु में विकल्प होने पर संशय होता है,जब तक उसका निर्णय नहीं होता है तब तक ही होता है,सर्वत्र ऐक्य बुद्धि निदानवशत: पृथक् देहैक्य निदान बुद्धि में भी सादृश्य भ्रम ही होगा। पूर्वापर अवयव का सन्धान होने पर ही परस्पर मिलित होकर स्थित होने पर सादृश्य भ्रम की सम्भावना होती है,प्रत्येक अवयव एक रूप में प्रतीत होते हैं,वह देह ही यह है यह कहना भ्रम है प्रत्येक वृक्ष को वन कहना जैसा होता है। भगवान् ने भी कहा है वह यह दीपशिखा है,वह यह स्रोत का जल है,वह ही यह व्यक्ति है यह सब मिथ्या बुद्धि है। अतएव यहाँ पर ब्राह्मणत्वादि अभिमान होने पर ही स्वप्न में जैसे जाग्रत स्वप्न होते हैं उस प्रकार ही विधि निषेध की प्राप्ति भी होगी। उस प्रकार से ही विधि निषेध की सार्थकता है। अत: परस्वभाव कर्म की निन्दा प्रशंसा न करे विश्व को एकात्मक रूप में ही देखे,द्वैत अवस्तु है,इसमें भद्र अभद्र क्या होता है यह सब अदृश्य भ्रम की दृष्टि से व्याख्या करे। द्वैत अवस्तु है अतएव स्वतन्त्र रूप से किसी का निरूपण होना असम्भव होने के कारण परमात्मा से यह सब भिन्न नहीं है।

आधुनिक अद्वैतवादीगण माया शक्ति के अतिरिक्त अन्तरङ्ग आह्लादिनी शक्ति को नहीं मानते हैं और स्वरूप शक्ति के विलास रूप भगवन्नित्य धामादि को न मानकर अन्ध परम्परा से ही निर्विशेषवाद को मानकर निन्दित होते हैं।।६१।।

भावाद्वैतं क्रियाद्वैतं द्रव्याद्वैतं तथात्मनः।
वर्तयन् स्वानुभूत्वेह त्रीन् स्वप्नान् धुनुते मुनिः।।६२।।

पूर्वोक्त अद्वैत स्वरूप को भावना द्वारा दृढ़ करना ही कर्त्तव्य है उसका प्रकार चार श्लोकों में कहते हैं। मननशील व्यक्ति भावना का अद्वैत, क्रिया का अद्वैत, द्रव्य का अद्वैत की आलोचना करके आत्मतत्वानुभव द्वारा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था त्रय का निवारण करते हैं। आत्मतत्व के अनुभव से अभेद बुद्धि अधिकार भेद से कर्म भेद बुद्धि, द्वितीय प्रकार मेरा कर्मफल मुझे ही भोगना है इस प्रकार आलोचना से उपासना करे।।६२।।

कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्शनं पटतन्तुवत्।
अवस्तुत्वाद् विकल्पस्य भावाद्वैतं तदुच्यते।।६३।।

भावाद्वैत, क्रियाद्वैत, द्रव्याद्वैत रूप से ही अद्वैत रूप में आत्म तत्व का चिन्तन मुक्ति कामी योगी करे। उसमें से प्रथम प्राप्त भावाद्वैत चिन्तन प्रकार को कहते है-विकल्प अर्थात् भेद अवस्तु है कारण वस्त्र एवं सूत्र के समान कार्य एवं कारण एक वस्तु रूप चिन्तन करने का नाम भावाद्वैत है। इस प्रकार जगत् एवं प्रकृति कार्य कारण रूप में एक है।।६३।।

यद् ब्रह्मणि परे साक्षात् सर्वकर्मसमर्पणम्।
मनोवाक्तनुभिः पार्थ क्रियाद्वैतं तदुच्यते।।६४।।

क्रियाद्वैत चिन्तन का प्रकार कहते हैं-क्रियाद्वैत उसको कहा गया है स्वरूप ज्ञान प्राप्त न होने पर भी स्वधर्माचरण अवश्य

ही करे। इस प्रकार मन: वाक्य एवं काय द्वारा साक्षात् परब्रह्म को समस्त कर्म समर्पण करने का नाम ही कियाद्वैत है।।६४।।

आत्मजायासुतादीनामन्येषां सर्वदेहिनाम्।
यत् स्वार्थकामयोरैक्यं द्रव्याद्वैतं तदुच्यते।।६५।।

द्रव्याद्वैत का प्रकार कहते हैं-निज पुत्र,पत्नी एवं निज सम्बन्ध रहित देहधारी मात्र के प्रयोजन काम एवं उसका साधन एवं भोग समस्त प्राणियों में एकरूप है एवं सबका भोक्ता एकमात्र परमात्मा है। इस प्रकार अभेद आलोचना के द्वारा अर्थ एवं काम के ऐक्य दर्शन को द्रव्याद्वैत कहते है।।६५।।

यद् यस्य वानिषिद्धं स्याद् येन यत्र यतो नृप।
स तेनेहेत कर्माणि नरो नान्यैरनापदि।।६६।।

उक्त समस्त आश्रम धर्मियों के कर्त्तव्य को संक्षेप से कहते हैं। जो द्रव्य जिस उपाय द्वारा जिस स्थान से और जिससे प्राप्त करता मनुष्य मात्र के लिए निषिद्ध नहीं है मनुष्य गण उस पकार से ही समस्त व्यवहार निष्पन्न करे। यह विधान आपत्काल को छोड़कर ही है किन्तु आपत्काल में उक्त विधान प्रयोज्य नहीं है।।६६।।

एतैरन्यैश्च वेदोक्तैर्वर्तमान: स्वकर्मभि:।
गृहेऽप्यस्य गतिं यायाद् राजंस्तद्भक्तिभाङ्नर:।।६७।।

प्रकरण का उपसंहार करने के लिए कहते हैं-उक्त समस्त

आदेश एवं वेद विहित अन्यान्य आचरण परायण व्यक्ति गृहस्थाश्रम में रहकर भी श्रीकृष्ण भक्ति के द्वारा श्रीकृष्ण को प्राप्त कर सकता है इसमें सन्देह नहीं है।।६७।।

यथा हि यूयं नृपदेव दुस्त्यजादापद्गणादुत्तरात्मनः प्रभोः।
यत्पादप ङ्केरुहसेवया
भवानहापीन्निर्जितदिग्गजःक्रतून्।।६८।।

एकादश अध्याय से पञ्चदश अध्याय पर्यन्त पञ्चाध्याय का वर्णन सर्वसाधारण के लिए ही हुआ है। भक्त के लिए विशेष कहते हैं-ऐकान्तिक भक्त सिद्ध एवं साधन भेद से दो प्रकार होते हैं, उन दोनों की गति ही भगवान् श्रीकृष्ण हैं। सिद्ध भक्त को भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् रूप में स्थित होकर निज प्रेम तरङ्ग के द्वारा नचाने के लिए सम्पद् एवं विपद् समूह की वृष्टि करते रहते हैं और प्रिय श्रीकृष्ण जैसा करते रहते हैं भक्तगण भी वैसा ही करते हैं कारण श्रीकृष्ण के अभिप्राय के अनुसार चलना ही उन सब भक्तों का भजन है। इस विषय में पण्डितों को प्रमाण रूप से दिखाते हुए कहते हैं हे नरदेव ' आप सब जिस प्रकार श्रीकृष्ण चन्द्र के अनेकानेक दुस्त्यज विपत्तियों से उत्तीर्ण हो गये हैं और उनके पादप द्म सेवा के द्वारा समस्त दिग्गजों को पराजित करके अनेकानेक यज्ञादि कर्म सम्पन्न किये हैं उस प्रकार संसार से उत्तीर्ण होने के लिए भी उन तारक स्वरूप श्रीकृष्ण का ही आप सब भजन करें।।६८।।

अहं पुराभवं कश्चिद्गन्धर्व उपबर्हणः।
नाम्नातीते महाकल्पे गन्धर्वाणां सुसम्मतः।।६९।।

महद् व्यक्ति की अवज्ञा से श्रीकृष्ण सेवा नष्ट हो जाती है, महत् की कृपा से ही सेवा सम्भव होती है इसका वर्णन निज जीवन वृत्तान्त कथन से करते हैं। पूर्व कल्प में मैं उपबर्हण नामक गन्धर्व था, गन्धर्वगण मुझको मानते थे।।६९।।

रूपपेशलमाधुर्यसौगन्ध्यप्रियदर्शनः ।
स्त्रीणां प्रियतमो नित्यं मत्तस्तु पुरलम्पटः।।७०।।
एकदा देवसत्रे तु गन्धर्वाप्सरसां गणाः।
उपहूता विश्वसृग्भिर्हरिगाथोपगायने।।७१।।

सौन्दर्य, माधुर्य, सौकुमार्य, सौगन्ध्य, चातुर्य प्रभृति के द्वारा मैं अतिशय प्रियदर्शन था, सकल युवतीजन ही मुझे प्रेम करतीं थीं, मैं निरन्तर मदमत्त एवं लम्पट होकर निज पुरी में अवस्थान करता था। एक समय देवताओं के यज्ञ में श्रीहरिगाथा गान करने के लिए विश्व सृष्टा के द्वारा गन्धर्व एवं अप्सरागण आमन्त्रित हुए थे।।७०-७१।।

अहं च गायंस्तद्विद्वान् स्त्रीभिः परिवृतो गतः।
ज्ञात्वा विश्वसृजस्तन्मे हेलनं शेपुरोजसा।
याहि त्वं शूद्रतामाशु नष्टश्रीः कृतहेलनः।।७२।।
तावद्दास्यामहं जज्ञे तत्रापि ब्रह्मवादिनाम्।
शुश्रूषयानुषङ्गेण प्राप्तोऽहं ब्रह्मपुत्रताम्।।७३।।

धर्मस्ते गृहमेधीयो वर्णित: पापनाशन: ।

गृहस्थो येन पदवीमञ्जसा न्यासिनामियात्।।७४।।

निमन्त्रण से मैं अत्यन्त आनन्दित हुआ और उन्मत्त की भाँति गा-गाकर युवतियों से वेष्टित होकर वहाँ पर उपस्थित हुआ। मेरी धृष्टता को देखकर विश्वसृष्टागण क्रुद्ध होकर मुझे शाप प्रदान किए कि-तुमने हमारी अवज्ञा की है अतएव सत्वर नष्टश्री होकर शूद्र हो जाओ। किन्तु ब्रह्मवादि मुनियों की सेवा एवं सङ्ग के कारण दासी पुत्रत्व प्राप्त होने पर भी ब्रह्मपुत्रत्व की प्राप्ति मेरी हुई थी । हे राजन् ' गृहस्थ के आचरण योग्य कर्म का वर्णन मैंने किया है,उक्त भक्ति धर्म ही यथार्थ धर्म है। श्रीभगवत् आदेश ही धर्म है "धर्मान् सन्त्यज्य य: सर्वान् मां भजेत् स च सत्तम:। स लिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचर:।।" यह भगवदादेश है। अर्थात् आश्रमोचित समस्त धर्मो के प्रति अत्यासक्ति को छोड़कर भगवद् भक्ति का आचरण ही करे। उक्त भक्ति धर्म ही पापनाशक है,काम्य कर्म पाप विध्वंसक नहीं है। गृहस्थ व्यक्ति उक्त भक्ति धर्म के अनुष्ठान द्वारा यथार्थ सन्यासियों की पदवी को प्राप्त कर सकेंगे।।७२-७४।।

यूयं नृलोके वत भूरिभागा लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति।

येषां गृहानावसतीति साक्षात् गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्।।७५।।

स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्यं कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूति:।

प्रियः सुहृद् वः खलु मातुलेय आत्मार्हणीयो विधिकृद् गुरूश्च।।७६।।

न यस्य साक्षात् भवपद्मजादिभी रूपं धिया वस्तुतयोपवर्णितम्।

मौनेन भक्त्योपशमेन पूजितः प्रसीदतामेष स सात्वतां पतिः।।७७।।

श्रीशुक उवाच

इति देवर्षिणा प्रोक्तं निशम्य भरतर्षभः।

पूजयामास सुप्रीतः कृष्णं च प्रेमविह्वलः।।७८।।

कृष्णपार्थावुपामन्त्र्य पूजितः प्रययौ मुनिः।

श्रुत्वा कृष्णं परं ब्रह्म पार्थः परमविस्मितः।।७९।।

इति दाक्षायणीनां ते पृथग् वंशाः प्रकीर्तिताः।

देवासुरमनुष्याद्या लोका यत्र चराचराः।।८०।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां

वैयासिक्यां सप्तमस्कन्धे युधिष्ठिर नारद

सम्वादे पञ्चदशोऽध्यायः।।

आप सब प्रह्लादादि भक्तो से तथा विप्रादि समस्त वर्णो से ब्रह्मचर्यादि आश्रमो से श्रेष्ठ हैं,इस पूर्वस्थ तीन श्लोकों मे कहने पर भी पुनर्वार उसको कहते हैं-हे राजेन्द्र मनुष्य लोक में आप सब भाग्यवान् हैं कारण लोक पवित्रकारी मुनिगण आपके घर मे आते हैं,दूसरी बात आपके आलय में मनुष्य चिह्नधारी साक्षात् परम ब्रह्म श्रीकृष्ण गूढ़ रूप में अवस्थान कर रहे हैं। अहो ' महद् व्यक्तियो के अन्वेषणीय,केवल निर्वाण सुख के अनुभव स्वरूप वह ब्रह्म आपके प्रिय सुहृद्,मातुलपुत्र,पूज्य,विधायक एवं गुरू हैं,आपके समान भाग्यवान् और कौन हो सकता है ? हे राजन् ' साक्षात् शिव एवं ब्रह्मादि देवगण निज-निज बुद्धि के द्वारा जिनका रूप वर्णन करने मे असमर्थ हैं,उनका वर्णन मैं किस प्रकार कर सकता हूं ? वह सात्वतपति भगवान् मौन,भक्ति एवं उपशम द्वारा ही पूजित होकर प्रसन्न होवें।

श्रीशुकदेव ने कहा-हे भरतश्रेष्ठ ' राजा युधिष्ठिर ने देवर्षि वर्णित उक्त वाक्य समूह को सुनकर अतिशय प्रीति एवं ममत्व से विह्वल होकर श्रीकृष्ण की पूजा की । राजा पहले वृहत्त्व ज्ञान से विस्मृत थे,सम्प्रति परम वृहत्त्व ज्ञान से परम विस्मित होने से अनन्तर देवर्षि श्रीकृष्ण एवं युधिष्ठिर के साथ सम्भाषण करके चले गए । हे परीक्षित ' मैंने आपके निकट दाक्षायणीयो के वंश का कीर्त्तन किया। देव,असुर,मनुष्य प्रभृति चराचर लोक समूह उक्त वंश के ही अन्तर्गत है।।७५-८०।।

सप्तमस्यान्तिमा व्याख्या
हरिदासेन शास्त्रिणा।
विवृत्ता सुष्ठु रूपेण
सज्जनपरितुष्टये।।

-**-